ISSN : 2321-3922
जुलाई-सितम्बर-2026
RNI-BIHHIN05394
वर्ष-14 अंक-46
Regd. No. PT/105/BGP-13/2027

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

www.susambhavya.com

सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका

सुसंभाव्य

(सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका)

जुलाई–सितम्बर 2026

प्रकाशन : 27 जनवरी 2013

RNI No. : BIHHIN05394/2015
ISSN - 2321-3922
वर्ष–14 अंक 46

श्री दयानन्द जायसवाल
संस्थापक–सह–प्रधान संपादक

डॉ. विजय कुमार सिंह
संयोजक

श्रीमती अनिता जायसवाल
संरक्षक

डॉ. गिरिजा शंकर मोदी
सम्पादक मंडल

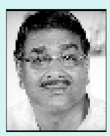

अश्विनी प्रजावंशी
सम्पादक मंडल

कार्यालय प्रभारी

बिरजू कुमार
भागलपुर
7004435995

सुमित भारती
कोलकाता
8757689138

सौरभ भारती
दिल्ली
8699170450

स्वत्वाधिकारी व प्रकाशक :

श्री दयानन्द जायसवाल

संपादन, संचालन, प्रबंधन एवं
समस्त व्यवस्था अवैतनिक एवं अव्यावसायिक ।
रचनाओं के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी।
समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र
भागलपुर।

सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल

मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो० : 09931240303
वेबसाईट : www.susambhavya.com
ई–मेल : dnj.sambhavya@gmail.com
bgp.susambhavya@gmail.com

RNI No. : BIHHIN05394/2015
ISSN - 2321-3922
जुलाई–सितम्बर 2026

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

वेबसाईट : www.susambhavya.com

आमंत्रण

'सुसंभाव्य' अंतर्राष्ट्रीय स्तर की हिंदी त्रैमासिक है जो वर्तमान समय में विश्व के विभिन्न देशों के पाठक सहित भारत के लगभग सभी शहरों के सहृदयों का स्नेह इस पत्रिका को प्राप्त है।

इसका ई–संस्करण विश्वग्राम के सभी सुधी पाठकों एवं स्नेहीजन के लिए www.susambhavya.com पर सहजता के साथ सुलभ है। मुद्रित संस्करण यथासंभव रचनाकारों, हिंदी के लिए समर्पित संस्था और संस्थानों को निःशुल्क उपलब्ध कराया जाता है।

श्रेष्ठ चिंतन सहज–सरल अभिव्यक्ति के माध्यम से जब कोई व्यक्ति सार्वभौम होकर जन–गण में व्याप्त हो जाता है तब वह व्यक्ति से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से संस्थान बन जाता है। ऐसे महान विभूतियों से आग्रह है कि अक्टूबर 2026 अंक में प्रकाशन हेतु अपनी मौलिक, नवीनतम एवं प्रतिनिधि रनचाएं अपने पत्राचार–पता के साथ, कोरियर या डाक से संपादक के पते पर भेजें।

आइये सब मिलकर सामाजिक सरोकार से संबंधित सार्वभौम, सार्वजनीन एवं श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से धर्म–मज़हब, जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग और नस्ल–भेद की दीवार हटा दें और सिर्फ इंसान बनें तथा उत्तम ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण से स्वयं का परिष्कार कर विश्वग्राम का सौभाग्य बनें।

संपादक
सुसंभाव्य हिन्दी त्रैमासिक
E-mail : dnj.sambhavya@gmail.com
bgp.susambhavya@gmail.com
Mob.: 9931240303

सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल
मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो0 : 09931240303

नोट : कृपया अपनी रचनाएँ kurtidev -010 में ही ई मेल से भेजें अन्यथा स्वीकृत नहीं होगी।

अनुक्रम

क्रमांक		विषय	रचनाकार	पृष्ठांक
1,	पुरोवाक्	संस्थापक की कलम से	–दयानन्द जायसवाल	5
2	समीक्षा	जड़विहीन समाज से आक्रोशित और व्यथित स्वर की कविताएं	–सुधीर ओखदे	6
3	समीक्षा	नारी जीवन की जीवटता है : नदी बहती रही	–रमेश खत्री	7
4	समीक्षा	हम दासियाँ (कहानी संग्रह)	–प्रद्युम्न कुमार सिंह	9
5	समीक्षा	असहमति में उठे हाथ : एक वैचारिक हस्तक्षेप	–डॉ अमरेंद्र सुमन	10
6	समीक्षा	विदेश की धरती पर देश के युवाओं का संघर्ष : इमिग्रेंट	– सरोजनी नौटियाल	13
7	समीक्षा	एक पुराना मौसम लौटा (कविता संग्रह)	–ज्योति जैन	15
8	समीक्षा	सामाजिक यथार्थ के रिमझिम छीटें भींगते सावन की कथा यात्रा	– देवेंद्रराज सुथार	16
9	समीक्षा	हिमाचल के हिंदी साहित्य का इतिहास	– रवि कुमार	17
10	समीक्षा	पूस की रात : ठिठुरती संवेदना से उभरती सच्चाई	–डॉ लव कुमार	19
11	समीक्षा	गिलिगडु : वृद्धजीवन का स्पर्शित उपन्यास	– बी एल आच्छा	21
12	समीक्षा	आदिम सभ्यता के लोग	– डॉ अरुण कुमार वर्मा	23
13	समीक्षा	चिंतन के नए आयाम : जयकारी	– अश्विनी कुमार दुबे	25
14	आलेख	जनकवि नागार्जुन	– डॉ अमर सिंह बधान	27
15	आलेख	स्वाधीनता संग्राम में साप्ताहिक पत्र का संघर्ष	– डा अवधेश चंसौलिया	31
16	आलेख	संताली लोकगीतों में संताल हूल	– प्रो डॉ शर्मिला सोरेन	34
17	आलेख	आदि महाकवि वाल्मीकि का साहित्यिक अवदान	– विजय कुमार विद्यालंकार	36
18	आलेख	वृद्ध आश्रम : जीवन सन्ध्या पर टिमटिमाते सितारे	– महेश शर्मा	38
19	आलेख	शबरी के प्रेम में भक्ति की ज्योति	–डॉ नलिनी श्रीवास्तव	40
20	आलेख	शिक्षा नीति में भारतीयता और स्वदेशी मूल्यों का समावेश	–डॉ विभाकानन	42
21	आलेख	गिरमिटिया प्रवासी हिंदी साहित्य में नारी चित्रण	–डॉ रमा दुधमाड़े	44
22	आलेख	हिंदी पत्रकारिता का इतिहास	–शैलेन्द्र चौहान	46
23	कहानी	परिंदे की बेबशी	–देववंश दुबे	51
24	व्यंग्य	दास्तान–ए सर्टिफिकेट	–मदन गुप्ता सपाटू	30
25	गीतें	वतन जो आजाद है, कचरे में रोटी	–डॉ अंजना वर्मा	12
26	गजलें .	.....	–प्रवीण कुमार	14
27	गजलें	.....	–राजेश जैन राही	18
28	गजलें	....	–विज्ञानव्रत	33
29	गजलें	....	–केशव शरण	35
30	अनुबंध	मेरी आजमाइश करते हो, कोई बात बने	–डॉ जेन्नी शबनम	22
31	कविता	विवशता	–प्राणमोहन प्रीतम	22
32	कविता	आह्वान	–प्रिया देवांगन प्रियु	33
33	कविता	श्रेष्ठता का ताण्डव	–मीनाक्षी छाजेड	43
34	कविता	कहीं ऐसा न हो	–प्रगति दत्त	43
35	कविताएं	वह जो हैं, हवलदार के बाग में, घर आते ही यह सोचा	–शिवनंदन सिंह	45

फूल और काँटा

हैं जन्म लेते जगह में एक ही
एक ही पौधा उन्हें है पालता
रात में उन पर चमका चाँद भी
एक ही सही चाँदनी है डाला

मेह उन पर है बरसता एक सा
एक सही उन पर हवाएँ हैं बहीं
पर सदा ही यह दिखाता है हमें
ढंग उनके एक से होते नहीं

छेदकर काँटा किसी की उंगलियाँ
फाड़ देता है किसी का वर वसन
प्यार–डूबी तितिलियों का पर कतर
भँवर का है भेद देता श्याम तन

फूल लेकर तितलियों को गोद में
भँवर को अपना अनूठा रस पिला
निज सुगंधों और निराले ढंग से
है सदा देता कली का जी खिला

है खटकता एक सबकी आँख में
दूसरा है सोहता सुर शीश पर
किसी तरह कुल की बड़ाई काम दे
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पुरोवाक्

दयानन्द जायसवाल

संस्थापक की कलम से

साहित्य मानवीय अर्थ–निर्माण, ज्ञान, सामाजिक बंधन और नैतिक कल्पना के लिए एक केंद्रीय तकनीक के रूप में कार्य करता है। इसकी भूमिकाएँ संज्ञानात्मक, भावनात्मक, सामाजिक, नैतिक, सौंदर्यपरक और व्यावहारिक प्रभावों में विभाजित होती हैं जो व्यक्तियों और समाजों को आकार देती हैं। यदि आप वास्तव में साहित्य को समझना चाहते हैं, तो पन्ने पर लिखे शब्दों से शुरुआत न करें, बल्कि इस बात से शुरुआत करें कि यह आपके मस्तिष्क को कैसे प्रभावित करता है।

इंटरनेट के आगमन, दृश्य माध्यमों के प्रसार और मनोरंजन के व्यापक प्रचलन के कारण लोग पढ़ने के आनंद को लगभग भूल ही गए हैं; लेकिन आइए एक कदम पीछे हटकर इस घटना की जड़ को समझने का प्रयास करें। और इसके लिए हमें उस अवधारणा को समझना होगा जो इसके मूल में निहित है। साहित्य! यह बुद्धिजीवियों के लिए एक उच्च कला रूप का आनंद लेना है। केवल शब्दों को कागज पर उतार देना ही किसी रचना को साहित्य नहीं बना देता। कविता, कहानी, गद्य या नाटक के संदर्भ में इसे एक सर्वोत्कृष्ट या पूरी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करनेवाला होना चाहिए। सर्वप्रथम, साहित्य हमारी आँखें खोलता है और हमें प्रत्यक्ष से परे देखने में सक्षम बनाता है। यह हमें अपने चारों ओर फैली विशाल दुनिया का एहसास कराता है। यह चीजों, लोगों और घटनाओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण को बदलता है। यह हमारे मन के क्षितिज को विस्तृत करता है और हमारे विश्व दृष्टिकोण को आकार देता है।

इतिहास और साहित्य आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं। इतिहास केवल सत्ता संघर्ष, युद्ध, नाम और तिथियों तक सीमित नहीं है। यह उन लोगों के बारे में है जो अपने समय की उपज हैं, जिनका अपना जीवन है। आज की दुनिया पिछली सदी या उससे पहले की सदी जैसी बिल्कुल नहीं है, लोग बहुत बदल गए हैं। साहित्य के बिना हम अपने अतीत के बारे में, उन लोगों के बारे में नहीं जान पाएँगे जो हमसे पहले आए और हमारे साथ एक ही धरती पर चले। साहित्य हमारे और अतीत के बीच इस कड़ी, इस बंधन को संरक्षित रखता है। इसके बिना हम खो जाएँगे। हमें अपनी संस्कृति और मान्यताओं से भिन्न संस्कृतियों और विश्वासों के बारे में जानने का एक तरीका प्रदान करता है। यह हमें उन लोगों, संस्कृतियों और स्थानों को समझने, अनुभव करने और उनके प्रति सहानुभूति रखने में सक्षम बनाता है जो हमसे भिन्न हैं। हम किसी परिस्थिति में शारीरिक रूप से उपस्थित हुए बिना भी दूसरों के जीवन को करीब से देख सकते हैं। हमें किसी दूसरे व्यक्ति के मन और तर्क को समझने का व्यक्तिगत अनुभव और अंतर्दृष्टि मिलती है। हम इससे सीख सकते हैं, समझ सकते हैं और इसकी सराहना कर सकते हैं।

साहित्य इतना विशाल है कि एक ब्लॉग पोस्ट में उसका सार समाहित करना असंभव है। यह सैकड़ों वर्षों के मानवीय ज्ञान, शिल्प कौशल और असीम रचनात्मकता का संगम है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, यदि आप इसे पढ़ रहे हैं, तो इसका अर्थ यही है कि आशा अभी भी बाकी है; लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है पढ़ने को प्रोत्साहित करनेवालों का समर्थन करना। साहित्य, चाहे वह कविताएँ हों, निबंध हों, उपन्यास हों या लघु कथाएँ, हमें मानवीय स्वभाव को समझने में मदद करता है।

हिंदी साहित्य को दुनिया भर में विस्तारित करने का श्रेय उन बहुत–सी संस्थाओं को भी जाता है जो विदेशी भूमि पर रहकर भी अपनी भाषा और संस्कृति को आज भी बनाए हुए हैं। वैश्वीकरण ने पृथ्वी के हर पहलू को मौलिक रूप से बदल दिया है। हालाँकि, इसका वैश्विक साहित्य पर विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है, जो पहले से कहीं अधिक परस्पर जुड़ा हुआ और एक–दूसरे पर निर्भर हो गया है। वैश्वीकरण ने स्थान और समय की सीमाओं को दरकिनार कर दिया है। ज्ञान, शिक्षा और अधिगम के लिए एक नए ढाँचे में विभिन्न प्रकार की समकालिक और असमकालिक गतिविधियों का उपयोग किया जाना चाहिए, जिससे शिक्षक और छात्र स्थान और समय की बाधाओं को पार कर सकें। साहित्य के वैश्वीकरण ने अंतर–सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं को सकारात्मक रूप से प्रभावित किया है, जिससे सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा मिला है और विभिन्न संस्कृतियों की बेहतर समझ विकसित हुई है।

वैश्विक उत्तरदायित्व को केवल विस्तार के संदर्भ में नहीं देखना है, बल्कि ऐसे मुद्दों के संकेत के रूप में जो राष्ट्रीय सीमाओं को पार करते हैं और समग्र रूप से विश्व को प्रभावित करते हैं, उन रूपों में देखना आवश्यक है। दूसरे अर्थ में, 'वैश्विक' विशेषण एक व्यापक अवधारणा को दर्शाता है, जो जटिल रूप से परस्पर क्रिया करनेवाले कारकों और घटनाओं के कुल योग को समाहित करता है।

इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि विश्व साहित्य एक बाजार है, जहाँ स्थानीय और राष्ट्रीय साहित्य आपस में मिल सकते हैं और एक दूसरे को रूपांतरित कर सकते हैं। विश्व साहित्य मुख्य रूप से प्रसार पर निर्भर करता है। विश्व साहित्य अपरिहार्य या स्वतःस्फूर्त नहीं है। उपनिवेशवादियों, राष्ट्रवादियों, बाजार के शत्रुओं, सेंसरशिप के समर्थकों, सभी ने साहित्य के प्रसार का विरोध किया है और करते आ रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि विश्व साहित्य एक ऐसी उपलब्धि है जो सक्रिय समर्थन के बिना लुप्त हो सकती है। हमें बाजार की स्वतंत्रता और विकास के हर उदाहरण या रूप को अच्छा नहीं मानना चाहिए, लेकिन विश्व साहित्य एक ऐसा बाजार है जिसे बनाए रखना आवश्यक है और इसके विकास को गति देने में सभी को योगदान देना चाहिए। वैश्वीकरण ने मानविकी विद्वानों के चिंतन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है, जिससे संचार, संस्कृति, राजनीति और साहित्य के बारे में उनके विचार बदल गए हैं। साहित्य एक शक्तिशाली माध्यम है जिसके द्वारा यह समझा जा सकता है कि वैश्वीकरण समाज, पहचान और मानवीय अनुभव को कैसे प्रभावित करता है। वैश्वीकरण एक अधिक सहिष्णु और परस्पर जुड़े समाज के विकास में योगदान देता है, जहां साहित्य सभ्यताओं के बीच एक सेतु का काम करता है।

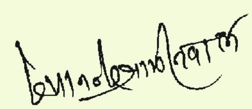

समीक्षा

जड़विहीन समाज से आक्रोशित और व्यथित स्वर की कविताएँ

सुधीर ओखदे
'अव्यान' प्लाट नं. 51
अनुराग स्टेट बैंक कॉलोनी
जलगाँव, (महाराष्ट्र)
मो.–9867537659

'लोग जिनकी जड़ें होती हैं' बहुत ही जागृत, संवेदनशील और सच्चे कवि कुबेर कुमावत की 73 कविताओं का संग्रह है जो आपको आपके कल्पनालोक में सहजता से लेकर जाता है और आप महसूस करने लगते हैं–''अरे! यह कुबेर ने क्या लिख दिया? मैं भी तो कुछ ऐसा ही सोचता हूँ।'' कुबेर की कविताओं में समाज के चाल–रीति, व्यवस्था, मानवीय स्वभाव का दोगलापन, आधुनिकता और पुरातन का संघर्ष, धर्म, समाज, ईश्वर, प्रकृति, मानव–प्रवृत्तियाँ आदि सभी के प्रति सात्विक आक्रोश है। कवि को आज ज्यादातर जड़विहीन व्यक्तियों के दर्शन होते हैं। वे लालायित हैं ऐसे लोगों से मिलने के लिए जिनकी जड़ें हैं, अपनी इसी शीर्षक की एक रचना में कवि कहता है–

''आजकल कहीं दिखाई देते/ चिंगारियों की तरह लोग/ अग्निकणों की तरह/ चमकते दमकते जगमगाते लोग/ दिखाई देते हैं बस/ सब कुछ मानते हुए/ समझौता करते हुए/ दुम हिलाते हुए/ गर्दन झुकाकर चलते हुए लोग/ नहीं दिखाई देते हैं/ नोचती चुभती लू में/ हरे–भरे लोग/ ऐसे लोग जिनकी जड़ें होती हैं।''

कुबेर की भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है कि मेरी इन कविताओं में अधिकांश स्थलों पर अपना निजी भावबोध प्रकट हुआ है। इसके पीछे मेरे जीवन के उन तमाम प्रसंगों, घटनाओं, स्थितियों, लोगों और उनसे मेरे व्यक्तिगत संबंधों की टकराहटों से उत्पन्न विचार–दृष्टि की विशेष भूमिका रही है। मुझमें कवित्व है या नहीं, मैं कवि हूँ या नहीं–यह चिंतन और बहस का विषय अवश्य होना चाहिए। मैं स्वीकार करता हूँ कि कविता का भी एक कवित्व होता है, जैसे स्त्री का स्त्रीत्व। कविता का भी पुरुषार्थ होता है, जैसे पुरुष का पुरुषार्थ। इस संग्रह की 'स्वाद' कविता में कवि ने मानव स्वभाव की पड़ताल पर नियम और सत्य के मार्ग पर चलनेवालों के लिए अब यह संसार उपयुक्त नहीं रहा, इस ओर इशारा करते हुए लिखा है–''यदि आपको/ दुनिया के हर चीज/ सही अर्थ और तरीके से/ देखने की आदत बन चुकी है/ तो आप मुश्किल में हैं/ यह दुनिया सिर्फ लोगों से बनी है/ इस दुनिया का सब कुछ/ लोगों के सुख के लिए/ लोगों की संतुष्टि के सामने/ सही–गलत और अच्छा–बुरा/ न्याय–अन्याय और धर्म–अधर्म का/ कोई स्थान नहीं है/ आपने तो देखा ही होगा/ कि बेचारे बकरे की तो जान गयी/ और खानेवाले को स्वाद भी नहीं आया।''

आज साहित्य की सारी विधाओं में व्यंग्य का समावेश इतनी सहजता से होता है कि कवि, लेखक लिखने के उपरांत सोचता होगा कि अरे! यह कैसा कटाक्ष मैं कर गया। आज मानवीय प्रवृत्तियों को कुत्तों के साथ जोड़ते हुए यह कवि कुत्तों को श्रेष्ठ कहता है, क्योंकि उसे कुत्तों में ही 'ह्यूमेनिटी' दिखाई देती है। इसी शीर्षक की कविता की यह छटा देखिये–

''उसे कुत्ते में/बहुत ही ह्यूमेनिटी है/ वह चाहे तो डरा सकता है/ लेकिन वह डरता है/ वह चाहे तो मनवा सकता है/ हर बात दूसरों से/ लेकिन वह मानता है/ आदमी जैसे नजरें हैं/ उस कुत्ते की/ वह कुत्ता ही है/ पर कुत्ते जैसा नहीं है/ अब इधर देखो/ कई आदमी हैं/ लेकिन आदमियों जैसे नहीं हैं/ घोर आश्चर्य है?''

आलोच्य संग्रह की 'परित्याग' कविता तो पुरुषसत्ता के चरम को इतनी सहजता से रेखांकित करती है कि परिवार संस्था पर ही प्रश्नचिह्न–सा लगाती है। यह देखिये–

''कहीं एक छोटी–सी भी/ गलती करो तुम/ तो मैं तुम्हें त्याग दूँ/ संदेह का कोई कीड़ा/ फड़फड़ाये तो सही जेहन में/ कि मैं तुम्हें परित्याग दूँ।''

कुबेर इन सबके बीच में सकरात्मक सोच को बढ़ावा देते हुए अपनी एक कविता 'कुछ दिन' में कहते हैं–

''चलो आखिर जो चाहता था/ वह होकर ही रहा/ कुछ दिन गलियों में कुत्ते नहीं भौंके/ मौका देखकर भी/ बिल्ली ने दूध पर/ ताव नहीं मारा/ पानी के लिए/ औरतों में बहस हुई/ सैय्यद ने बीड़ी पी/ न रामदास ने किसी से उधार लिया/ बच्चे स्कूल से नहीं भागे/ न सासों ने बहुओं को तंग किया/ न कहीं बकरा कटा/ न बनिये ने काँटे पर कम तौला/ मुल्ला ने मेहतर के घर पानी पिया और पंडित ने बुधा की उंगली से शहद चाटा।''

एक तरफा अंतहीन प्रेम को व्यक्त कराती एक बहुत खुबसूरत कविता है–'अंतहीन सूना आकाश'। प्रिंट की गलती से पुस्तक में अंतहीन सूना आकाश प्रिंट हुआ है, लेकिन मेरी समझ में 'सुना' की जगह 'सूना' ज्यादा उपयुक्त लगता है। आइये इस कविता का आनंद लें–

''मैं तुम्हारे माथे का/ एक चुम्बन लेना चाहता हूँ/ पर यह क्या?/ अहम् ने पहले से/ चूम रखा है/ माथे को तुम्हारे/ मैं तुम्हारे चरणों का/ लेना चाहता था अमृत–सा स्पर्श/ पर यह क्या?/ मेरे प्रति अप्रियता ने/ सिकुड़ रखा है/ चरणों को तुम्हारे/ मैं चाहता था तुम्हारे/ हथेली को थाम कर/ चलना कुछ अंतर/ तुम्हारे साथ/ तुमने हर चीज/ आरक्षित–सी कर ली है/ अपने दुख, अभाव और/ और अकेलेपन के/ जंगलों को भरने के लिए/ मेरे लिए बस यदि/ कुछ बचा रखा है तुमने/ तो वह है यह/ अंतहीन सूना आकाश।''

बुढ़ापे की असहायता को जब कुबेर अपने शब्द देते हैं, तो लगता है कि किस क्रूर समाज में जी रहे हैं। बुढ़ाने में अपने पुत्र से मिलने की चाह पर यह क्या लिख दिया कुबेर ने एक कड़वा सच...''मेरे बुढ़ापे में/ जबकि मेरे सहारे के लिए/ एक घर, थोड़ा पैसा/ और एकलौता पुत्र है/ एक दिन अचानक/ मैं बेसब्री से प्रतीक्षा में हूँ/ अपने पुत्र की/ वह आ रहा है/ घर और पैसा लेने/ आ तो रहा है।'' इस कविता में कुबेर रिश्तों को बेनकाब करते चले जाते हैं, पर साथ ही बुढ़ापे में उसे संतोष है कि वह आ रहा है घर और पैसा लेने, आ तो रहा है...अंत में हम अंतहीन पीड़ा का महसूस करते हैं।

कुबेर कुमावत की कविताएँ समय को आज के परिवेश में रेखांकित करती हैं, 'लोग जिनकी जड़ें होती हैं' काव्यसंग्रह की सभी कविताएँ न सिर्फ आपको आंदोलित करती हैं, अपितु प्रश्नों के ऐसे अंबार पर आपको बैठाती हैं, जहाँ उत्तर नदारद है। है तो बस एक विचार, चिरंतन विचार। कवि कुबेर से एक ही आग्रह है कि कविताओं का यह सैलाब अब रुकना नहीं चाहिए, निरंतर प्रवाह के साथ इन काव्यमय विचारों का स्वागत है। कुबेर कुमावत को आगामी लेखन हेतु हार्दिक शुभेच्छा।

समीक्ष्य : लोग जिनकी जड़ें होती हैं, कुबेर कुमावत, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2020, मूल्य 300/–

समीक्षा

नारी जीवन की जीवटता है नदी बहती रही

रमेश खत्री, पूर्व संपादक
नेट मैगजीन साहत्यदर्शन डॉट इन
प्रतापनगर, जयपुर मो– 9414373188

फ्रेडरिक एंगेल्स ने जब परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की संस्थाओं बीच ऐसे रश्तों की मौजूदगी की बात की जो इन तीनों को न सिर्फ गढ़ते और रचते हैं, बल्कि इन्हें बनाये और बचाये रखने में भी मदद करते हैं, तो उसके सामने यूरोप का समाज था। लेखक इन रिश्तों को बनानेवाले नियम वैज्ञानिक सोच और समझ का नतीजा है, परन्तु इनके आधार पर जब हम दूसरे मानव समाजों और सभ्यताओं का अध्ययन करते हैं, तो हमें कुछ और जटिलताएँ भी दिखायी देती हैं, जिनकी व्याख्या के लिए हमें रिश्तों के दायरों का थोड़ा विकास और विस्तार करना पड़ सकता है।

कहा तो यह भी जाता है कि उपन्यास किसी भी समाज के अंत के अंतर्बाह्य का प्रामाणिक लेखा होता है। यह सच को उस रूप में प्रस्तुत करता है, जिसे प्रायः हम देख नहीं पाते या जो संभवतः अभ्यास की कमी के कारण हमसे दृष्टि ओझल होता रहता है। बीते समय में उपन्यास की लोकप्रियता का कारण ही यह रहा है कि पाठक इसमें न केवल अनुभवों की झलक पा सकता है, बल्कि अपने पात्रों के साथ उठ–बैठ और बतिया सकने तक का स्पेस उसके पास होता है, जिसमें वह अपने परिचित–अपरिचित समाजों की नब्ज को पहचान सकता है। अतः उपन्यास के पक्ष में दिया गया वह बयान बिल्कुल सच लगता है कि वह काल्पनिक पात्रों के सहारे लिखा जानेवाला वास्तविक इतिहास होता है। उसमें वे पात्र भी स्थान पा लेते हैं जिन्हें इतिहास प्रायः उपेक्षित मान लेता है या जो उसके तंग खाते में फिट नहीं बैठ पाते अथवा जिन्हें संस्थान विरोधी बताकर हाशिये से बाहर रखने की कोशशें की जाती हैं। समाज के वास्तविक नायकों को इतिहास बहष्कृत करने का खेल चूँकि सत्ता की केन्द्रीकता से जुड़ा है, जिसका चरित्र प्रायः अपरिवर्तनशील होता है, अतः इतिहास के दायरे में वास्तविक नायकों को पीछे ढकेलने की प्रक्रिया प्रकारान्तर में थोड़े–बहुत बदलावों के बावजूद हर एक समाज में अनवरत रूप से चलती रहती है, जिसको स्वर देने के कारण उपन्यास और साहित्य की शेष विधाएँ हमेशा अपनी प्रासंगिकता बनाए रखती हैं। हालाँकि इसी दौर में उन्हें अपने परिवर्तन और परिमार्जन की प्रक्रियाओं से भी गुजरना पड़ता है, जिसके द्वारा वे अभिव्यक्ति के युगानुकूल माध्यमों से स्वयं को समृद्ध करने का काम करती है।

हम देखते हैं क वर्तमान समय में जीवन–जगत की वास्तविकताओं को यहाँ तक कि अपरिचित समाजों को, चरित्रों को, सस्कृतियों को और देशों को परचाने के लिए उपन्यास से सशक्त दूसरा कोई माध्यम नहीं है। अभी हाल ही मे डॉ. सुदेश बत्रा का उपन्यास 'नदी बहती रही' मोनिका प्रकाशन जयपुर से प्रकाशत हुआ है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में भी दो संस्कृतियों को चित्रित कया गया है। एक तरफ भारतीय संस्कृति है, तो दूसरी तरफ अमेरिकन संस्कृति। यह उपन्यास अपने कथानक में जन अंतर्संबंधों को परत–दर–परत खोलता है जो पूंजीवादी समाज में दबा हुआ है। उसकी परतों को खोलने के साथ वह उनको भारतीय संस्कृति के उन अणुओं में डालने की कोशिश करता है, जो सदियों से हमारे अंतर्मन में बसी हुई है। यह कथा यात्रा दरअस्ल एक माँ की नजर से देखा गया वह कोलाज है जो उसके दो बेटों के बीच में पसरा हुआ है और वह इन दो किनारों के बीच सतत बहती रहती है।

उपन्यास का कथानक दो बेटों के इर्दगिर्द बुना गया है, दोनों ही डॉक्टर है। एक बेटा अपनी पढ़ाई के दौरान ही अमेरिका चला जाता है और फिर वहीं पर हमेशा के लिए सैटल हो जाता है। दूसरा बेटा भी अमेरिका जाना चाहता है, किन्तु किन्हीं कारणों से जा नहीं पाता और उसके मन में यह बात फांस की तरह फँसी रह जाती है। इन दोनों के बीच में नदी के रूप में एक माँ है जो दोनों को ही ढाढ़स देती रहती है। यही उलझन और उनके भटकावों के बीच से राह तलाशती कथा–यात्रा आगे बढ़ती है और उस मुकाम पर पहुँची है, जहाँ किनारों का संगम होता है, ''अक्सर बड़े निर्णयों में निन्दनी दिल और दिमाग की लड़ाई में उलझती रहती है। उसे लगता है, दिल से किया गया निर्णय भावुकता से प्रेरित होता है; किन्तु दिमाग से लिया गया निर्णय बौद्धिकता से जुड़ा होता है जो आरम्भ में कठोर लगता है, किन्तु भविष्य में अच्छे परिणाम देता है।''

समीक्ष्य उपन्यास में लेखिका कहती है–''हमारे देश में अमेरिका प्रवास एक हसरत जगाता है। आज मध्यवर्गीय परिवारों के अधिकांश घरों का एक न एक सदस्य अमेरिका जाकर बस गया है, या कि बसना चाहता है।.. संतान मोह में बँधे–बँधे माता–पिता भी कुछ महीनों के लिए वहाँ हो आते हैं। जहाँ युवा पीढ़ी प्रसन्न है, वहीं बजुर्ग लोग बड़ी जल्दी उकता जाते हैं और जल्दी ही लौट आते हैं अपनी उसी दुनिया में। उनके लिए यही सुकून है, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपना खानपान और अपने लोग। वहाँ के वातावरण में घुली चुप्पियाँ उन्हें रास नहीं आती, दरवाजे पर छोटी–छोटी सुविधाएँ पा लेनेवाले भारतीयों को वहीं के विस्तार और व्यवस्था रास नहीं आते, क्योंकि वे स्वयं को गुमनाम पाते हैं, फिर भी वहाँ से लौटकर वहाँ से यहाँ की तुलना जरूर करते हैं। मन में कहीं गर्व भरा पुलक भी भरा रहता है, पर साथ ही अपनी औलाद से बहुत दूर और अकेले रहने की उदासी भी।''

उपन्यास का समूचा परिवेश तथा पात्र दो हिस्सों में बँटा हुआ है। एक तरफ है भारतीय परिवेश, यहाँ आपसी व्यवहार, सम्बन्धों की आवाजाही अपनेपन का गहन बहता स्रोत जिसमें पगे पात्र अपनी संस्कृति को बखूबी बयान करते नजर आते हैं। तो वहीं दूसरी तरफ अमेरिकन परिवेश है, वहाँ की भाषा है, संस्कृति है, और इन सबके बीच कहीं गहरे बहते हुए मौन है जो बहुत कुछ कह जाते हैं न चाहते हुए भी, ''नन्दिनी की आँखों में कई सवाल थे, मगर वहीं एक आश्चर्य भी था, पश्चिमी परिधान और गहरी लाल लिपिस्टक में सजी स्त्रियाँ, साथ ही गहरे चटक रंगों के भारतीय सलवार–कमीज में सजी स्त्रियाँ, उनके साथ कीमती साड़ियों के साथ कीमती आभूषण पहने पल्लू को सँवारती स्त्रियाँ, खूब सारे पुरुष, बच्चे सभी के चेहरे हन्दुस्तानी थे। उसे लगा जैसे टी.वी. से निकलकर ढेर सारे मॉडल्स उसके सामने घूम–फिर रहे हैं।'' उपन्यास को पढ़ते हुए एक–एक बारीक बात हमारे सामने खुलती चली जाती है, यह उपन्यासकार की सफलता है कि वह कथानक का ताना–बाना इतनी सुघड़ता के साथ बुनी जाती है कि भविष्य की घटनाओं को लेकर पाठक की जिज्ञासा लगातार बलवती होती रहती है, ''प्रवासी भारतीयों की इस पीढ़ी ने भारतीय समाज की पुरानी परंपराओं और बंधनों से निकलकर अमेरिका में आजादी का एक नया अर्थ तलाश लिया था। न सामजिक रोक, न बड़े–बुजुर्गों की तीखी हिदायतें, डॉलरों की चमक बड़े–बड़े खुले बंगलों की शान, तीन–चार गाड़ियों का नशा और दो–दो सभ्यताओं का कॉकटेल। अमेरिका में रहना भारतीय प्रवासियों के लिए स्टेटस सिंबल है। यहाँ की स्त्रियों के लए कल्पना चावला या किरण बेदी रोल मॉडल नहीं है। इन्हें बॉलीवुड की अभिनेत्रियाँ, उनके ड्रेस डजाइनर के कपड़े अधिक सुहाते हैं, उन पर अमेरिकन इंग्लिश का तड़का।

समीक्ष्य उपन्यास के वृतांत में कई स्थानों पर हम एक तरफ भारतीय संस्कृति और परिवेश को पाते हैं, तो दूसरी तरफ अमेरिकन संस्कृति के ताने–बाने में उलझे हुए प्रवासी भारतीयों का जीवन है,

काफी देर बाद उसने मुड़कर देखा। नीता नहाने के लिए उपर चली गई थी। रसोई साफ–सुथरी चकाचक थी। नाश्ते और लंच की तैयारी के कोई आसार नहीं थे। साढ़े नौ बज चुके थे। नन्दिनी डायबटीक है। सुबह दवाई लेने के बाद उसे इस समय तक नाश्ता करने की आदत है, वरना उसे चक्कर आने लगते हैं। वह धीरे से उठी फ्रिज खोला। ढेर सारी सब्जियों के डिब्बों के बीच एक छोटे–से डब्बे में गुंधा हुआ आटा मिल गया। उसे बाहर निकालकर उसने तवा ढूंढना शुरू किया। यह उसे बड़े अवन के अंदर ढेर सारे बर्तनों के बीच मिला। सबसे मुश्किल था गैस जलाना, बिना सिलेंडर, बिना लाइटर की गैस बहुत डरते–डरते जलाई। फिर ढूंढा थोड़ा–सा सूखा आटा पलेथन के लिए। अब चाहिए तेल जो उसे किचन स्टोर में मिला। सब कुछ इकट्ठा कर उसने एक पंराठा बनाया, उसका मन हुआ एक नीता के लिए भी बना दें।'' (पृष्ठ 20) हम देखते हैं दोनों संस्कृतियों के ध्रुवों के बीच इलास्टिक की तरह खींचती हुई एक माँ की ममता के कई दृश्य इसमें गुंथे हुए है, ''अतीत कभी पीछा नहीं छोड़ता। नन्दिनी आज भी सोचती है किसी भी सुंदर इमारत का अगर मूल स्वरूप देखा जाए तो ज्ञात होगा कि जमीन कितनी झाड़–झंकाड़ों से भरी पथरीली और बेतरतीबी है, उसे समतल बनाने में और एक–एक ईंट चुनने में न जाने कितनी मेहनत, कितना पसीना, कितने जख्मों, कितनी धूप सहनी पड़ती है। लेकिन बनानेवाले के सामने एक नक्शा, इमारत का एक चेहरा तो होता ही है, तभी तो हर इमारत अपना अलग अंदाज, अलग लक्ष्य और अलग रंग–रूप लेकर उभरती है। हाँ, इतना जरूर है कि कंगूरों की खूबसूरती देखकर नींव के पत्थरों को नहीं भूलना चाहिये।

इस उपन्यास में अपने समय और संस्कृति के साथ भाषा को भी पकड़ने का लेखिका ने प्रयास किया है, इसी के बरअक्स आपसी समन्वय और उससे उत्पन्न संघर्ष कई स्थानों पर स्पष्ट दखाई देता है और यह बात सबसे ज्यादा दो संस्कृतियों के सेतु–रूप के प्रयोग में अपनायी जा रही भाषा को लक्षित करती है–''तुम जानते हो, मैंने पहले पाँच साल कितने कष्ट संघर्ष और विश्वासघात में गुजारे है। इंसान की फितरत कम–ज्यादा सब जगह एक–सी ही रहती है। भारत में बहुत सफल डॉक्टर, उद्योगपति, इंजीनियर आदि रहते हैं, इसलिये वहाँ के सफल लोगों को निकट से देखने की कोशश करो। खासकर वे लोग जो अपने बलबूते पर सफल हुए हैं, उनकी कार्यशैली, कठोर परिश्रम, व्यवहार कुशलता, अधिक से अधिक और लेन–देन में अति सतर्कता। साथ ही शांत–शिष्ट और मीठा व्यवहार। आधी सफलता तो मीठा बोलने से ही मिल जाती है। धैर्य रखना बहुत जरूरी है। मनोवांछित बहुत जल्दी नहीं मिलता, लेकिन गुणवत्ता से पहचान मिलने लगती है। याद रखो, दृश्यता अर्थात् विजीबिलिटी बनी रहनी चाहिये।''

इसकी कथावस्तु के साथ हम अमेरिकन संस्कृति धर्म और परम्परा का ही नहीं, बल्कि वहीं की शिक्षा वहीं के चरित्र, वहीं की भौगोलिक परिस्थितियों को भी कथारस से पकड़ते हुए उसमें घुल–मिल जाने का अवसर मिलता है। दो संरकृतियों के बीच की दूरियों को पाटने में लेखक ने जिन औजारों का प्रयोग किया है, वह भाषा है जो एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक निर्विघ्न बहती रहती है और उन कालखंडों को पकड़ने का प्रयास करती है जो जाने–अनजाने छूट गये हैं।''नन्दिनी के पैर वहीं जम गए थे। उसे राम–कथा याद आ गई। कौशल्या ने कैसे भेजा होगा राम को वनवास में? राम तो चौदह साल के लिए गए थे, पर उसका बेटा...? विदेश गमन दिल और दिमाग की लड़ाई थी। नन्दिनी को लगा जैसे उसने बेटे को एक विशाल समंदर में फेंक दिया है और उसे तैरना भी नहीं आता। (पृष्ठ 109)

लेकिन समय का बहता हुआ दरिया जीवन में नवजागरण की अनुगूंज को सुन पाता और उस बदलाव में रचना कैसे अपनी भूमिका निभा पाती, यह संभव होता है सृजन सरोकारों से। कथानक में आई घटनाओं में सांस्कृतिक समय की आवाजाही कहीं–कहीं अवश्य झलकती है, पात्रों की छटपटाहट सृजन के बदलाव की तरफ इशारा करते हैं, क्योंक यहाँ यथार्थ उतना ही आता है जितना पात्रों के निजी संघर्ष से जूझते हुए देख, पढ़ और समझ पा रहे हैं।''यह मृगतृष्णा नहीं तो और क्या है? सारी उम्र एक सपने के पीछे भागते हैं और जब सपना परवान चढ़ता है तो ही कहीं पीछे छूट जाते हैं, वक्त के साथ दौड़ने का दम–खम ही नहीं बचता। सहम–राहम कर बोलना और फूंक–फूंक कर चलना जब दिनचर्या में घुल जाता है, तो वातावरण की हवा भारी हो जाती है, पर यही सच है, अनुभवों की प्रौढ़ता और संस्कारों की गतिशीलता के तालमेल गड़बड़ा जाते हैं।''

उपन्यास की रचना प्रक्रिया पर बात करते हुए डॉ. सुदेश बत्रा कहती है–''इसमें मैंने इन सवालों को रखने की कोशिश की है, आखिर हमें स्वयं को तलाशना होगा कि हम अपने देश को और स्वयं को ही इतना कर्मठ और सफल क्यों न बनाएँ कि अपनी मातृभूमि हमें सर्वोपरि प्रतीत हो। शिक्षा, कानून, व्यवस्था, अनुशासन, नैतिकता जैसे अनेक आयाम हैं जो हमारे देश के विकास को एक नई पहचान देते हैं। आखिर खुशी, सफलता और सार्थकता की परिभाषा क्या है?'' इससे आगे जाकर वो कहती हैं–''एक माँ का जीवन जब दो हस्सों में बँट जाता है, तो वह किसी एक के प्रति दुराग्रही नहीं हो सकता। वर्तमान जीवन की विडंबना और महत्त्वाकांक्षाओं के भंवर का पुनर्मूल्यांकन करने की जिज्ञासा ने ही इस उपन्यास के कलेबर को रचा है।''

समीक्ष्य उपन्यास की मुख्य पात्र नन्दिनी है। यह पूरे उपन्यास में घनेरे बादल की तरह छाई हुई है, कन्तु उनके पति प्रकाश का पूरे उपन्यास की कथा–यात्रा में तनिक–सा भी योगदान नहीं है। यह पात्र सदा ही निरपेक्ष बना रहता है। ''प्रकाश को मालूम था, निन्दनी जवाब सुने बिना नहीं मानेगी।'' बहुत देर बाद बोले–''आने तो दो आनंद को फिर सोचेंगे।'' कहकर वे उठ गए। (पृष्ठ 62) तथा ''प्रकाश रिटायर होकर लौट आए थे।'' (पृष्ठ 73) इसी तरह ''प्रत्येक दो या तीन वर्ष में प्रकाश के ट्रांसफर के कारण वे लोग कभी स्थिरचित्त नहीं हो पाए।''... प्रकाश कभी सप्ताहांत पर कभी महीने में दो दिन के लिए आ पाते थे।'' पूरे उपन्यास में उनका बस इतना ही योगदान है। प्रकाश की निरपेक्षता किसी काँटे–सी चुभती है। परिवार के सभी फैसलों से परिवार में रहकर भी किस तरह से निरपेक्ष रहा जा सकता है। यह विचारणीय है। समूची कहानी में इस पात्र की भूमिका पूरी तरह से निरपेक्ष बने रहने की ही है।

निश्चित तौर पर उपन्यास को पढ़ते हुए बार–बार यही लगता है कि समय कोई भी हो, संस्कृति कोई भी हो, रचनाकार की सामाजिक हैसियत कुछ भी हो, पर जब वह अपने समय से आगे की रचना करते हुए यथास्थिति को बदलने की कोशिश करता है, तो निश्चित तौर पर उसका लिखा एक तरफ पाठकों को कायल बनाता है, तो वहीं दूसरी तरफ उसका जीवन लोगों की आँख की किरकरी बन जाता है। इस उपन्यास में सम्बन्धों की परतों को खोलते हुए, सही–गलत की बहस से अलग बहुत तटस्थता से पारिवारिक सम्बन्धों की परतों को खोलते हुए पूरब और पश्चिम की संस्कृति के बीच कोई सेतु रचने का प्रयास किया है। इसमें जीवन के मामूली दिनों की छोटी–छोटी घटनाओं को पकड़ते हुए उसमें बहते हुए भावों की गहराई को हम अनुभव करते हैं। यह एक रचनाकार की सफलता तो कही ही जायेगी, कन्तु इससे उभरे कथारस में भीगते हुए हम अपने विचारों की परिपक्वता को भी अनुभव करते हैं। यह रचनाकार की और रचना की सार्थकता भी कही जायेगी। इस रूप में भी यह पठनीय और संग्रहनीय कृति बन पड़ा है।

'नदी बहती रही' डॉ. सुदेश बत्रा, मोनिका प्रकाशन, जयपुर संस्करण–2025, पृष्ठ–184, मूल्य–400

समीक्षा

'हम दासियाँ (कहानी संग्रह)

प्रद्युम्न कुमार सिंह
बाँदा, बबेरू, उ.प्र.
मो.–8858172741

नीरजा हेमेन्द्र साहित्य के क्षेत्र में जाना पहचाना नाम है। मेरा उनसे परिचय के आत्मीयता भरा रहा। उनका नवीनतम कहानी संग्रह 'हम दासियाँ' हैं। जिसकी पठनीयता और भाषा वैशिष्ट्य दर्शनीय है। संग्रह की कहानियाँ निश्चित तौर पर नारी के अंतर्मन में उठती टीस का अनूठा उदाहरण है।

यद्यपि अनेकानेक अंतर्कथनों और बाह्य परिदृश्यों को देखनेवाले इस बात से इनकार कर सकते हैं या यूँ कहें कि विमर्श की वीणा थामे छद्म स्त्रीवादी लोग और उनका कमंडल थामे स्वांग मंडली तथा अपने को स्त्री विमर्श की महषी घोषित करनेवाली ढोंगी स्त्रियाँ ये माने या न माने, किन्तु स्त्री वेदना, स्त्री संस्कार और आत्मचेतना नीरजा हेमेन्द्र के यहाँ जो मिलती हैं, वह प्रायः अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। नीरजा हेमेन्द्र के अनेक कहानी संग्रह मेरे पास हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं।

मैंने अनेक महिलाओं द्वारा लिखी हुई विभिन्न कहानियों को पढ़ने व समझने का प्रयास किया, किन्तु नीरजा जी की कहानियाँ भूतलक्षी न होकर वर्तमान परिवेश से अपना स्थापत्य गढ़ती नजर आती हैं।'' हम देवदासियाँ भी इसी सामंजस्य के स्थापत्य का एक अनूठा प्रयोग है। इस संग्रह में कोई सवा दर्जन कहानियाँ हैं, जिनके तार एक दूसरे से इस प्रकार मिले हैं, जैसे कोई सुंदर अवली सामने उपस्थित हो।

कहानी संग्रह की प्रथम कहानी 'वो जीत थी या हार' निश्चित तौर पर शिक्षा के महत्व को दर्शाती एक श्रेष्ठ कहानी है। जहाँ अक्सर हम काम–काज में व्यस्त होने पर अपनी शिक्षा व डिग्री को खूँटी पर टाँग देते हैं, जिनपर समय की धूल की परत जमती चली जाती है। लेकिन नीरजा हेमेन्द्र की कहानियों में ऐसा दृश्य नहीं दिखाई देता। उनकी कहानी की नायिका प्रेम में धोखा मिलने पर संघर्ष का रास्ता चुनती है, न कि आत्मघाती कदम उठाकर अपनी जीवन–लीला समाप्त करने का।

उक्त कहानी में कथाकार ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि जो व्यक्ति अपनों की कद्र नहीं करता, वक्त आने पर जिनके लिए अपने परिवार से रिश्ते तल्ख करता है, वह भी उसे स्वीकार करने से इनकार कर देते हैं। जैसा कि रंजना के द्वारा नायक को डंडा लेकर दौड़ाना।

नीरजा जी की कहानियों की एक खास बात होती है कि उनकी कहानियाँ सामाजिक तानों–बानों के उधेड़बुन के इर्द–गिर्द घूर्णित होती नजर आती हैं। लेखिका कमजोरी को दृढ़ आधार बनाने पर विश्वास रखती हैं। जैसा कि संग्रह की दूसरी कहानी 'जीवन पैरागेम नहीं है' में लेखिका ने यशवर्धन जैसे एक दिव्यांग बच्चे का जो व्हीलचेयर के माध्यम से अपना जीवन जीने को विवश था। उसकी विवशता को दिखाने का प्रयास तो किया है, साथ ही नौकरी करते अभिभावकों को दिखाने का प्रयास किया है। जिनके पास धन तो होता है, किन्तु अपने माता–पिता व संतान के साथ समय बिताने के लिए समय नहीं होता।

रिश्तों के प्रति उदासीनता, संवेदना के स्वरों की मधुर झंकृति नीरसता से भरे–पूरे परिदृश्य को बदलकर रख देती है। जैसा कि यशवर्धन द्वारा अपनी फुफेरी बहन की मदद से पैरागेम में अपनी टीम के साथ–साथ राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने में सक्षम होना।

नीरजा जी की कहानियाँ तथ्यात्मक सत्यों का ऐसा गुलदस्ता होता है, जो सभी को आप्यायित कर सकता है। जैसा कि 'वो समय कुछ और था' कहानी भाई–बहन के पवित्र रिश्तों को स्वार्थ की बलिवेदी पर चढ़ाते हुए समाज की कहानी है। जहाँ स्वार्थपरता रिश्तों की अहमियत उनके त्याग व स्नेह को पूर्णतया नकारने का काम करती है। भले ही उससे किसी को घर टूट जाए या धंधा चौपट हो जाए या कोई काल कवलित ही क्यों न हो जाए, उन्हें इससे रत्तीभर भी फर्क नहीं पड़ता।

सार्थक, यथार्थ, उद्देश्य पूर्ण कथ्य व घटनाओं से समृद्ध कहानी संग्रह की अंतिम कहानी 'रीढ़–विहीन है। नीरजा जी की यह कहानी स्त्री–पुरुष के दाम्पत्य जीवन के कड़के, खट्टे–मीठे आस्वादों का पुष्पगुच्छ है। इसी प्रकार संयुक्त परिवार और उसके अपने फायदों के बारे में अपनी कहानी 'सफर में धूप तो होगी' का वितान रचा है। संग्रह के नाम की कहानी 'हम देवदासियाँ' एक ऐसी मार्मिक कहानी है, जिसमें एक स्त्री उम्रभर अपने परिवार के लिए स्वयं को खपाती है। कभी पति की प्रतिष्ठा के लिए, तो कभी परिवार की मर्यादा के लिए, तो कभी बच्चों के भविष्य के लिए। इस भागमभाग में अपना ख्याल तक नहीं रख पाती। जैसे कि मंदिर को सजाने–सँवारने का काम बिना विचलित हुए सेविकाएँ या देवदासियाँ करती हैं।

अंत में हम कह सकते हैं कि नीरजा हेमेन्द्र का कहानीसंग्रह 'हम देवदासियाँ' निश्चित रूप से स्त्री विमर्श की दिशा में एक ऊर्जावान शक्तिपुंज की भाँति प्रकाश बिखरेता रहेगा, जिसके आलोक से आलोकित स्त्री विमर्श स्वयं कृतकृत्य करता रहेगा।

समीक्षा

असहमति में उठे हाथ : एक वैचारिक हस्तक्षेप

डॉ. अमरेन्द्र सुमन
मणिविला, केवटपाड़ा मोरटंगा रोड
(झारखड) मो.–8409718050

'असहमत में उठे हाथ' झारखड के युवा कवि पत्रकार अशोक सिंह का दूसरा कविता संग्रह है। कवि का अपनी कविताओं के माध्यम से असहमति में हाथ उठाकर अपना विरोध जताना एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक हस्तक्षेप है जिसको गंभीरता से सुना ही नहीं, गुना भी जाना चाहिए।

अशोक सिंह झारखंड से रहे हैं, इसलिए उनकी कविताओं में झारखंड का झारखंडीपन और जुझारूपन तो है ही, आदिवासियों के दु:ख–दर्द, शोषण, गरीबी, भूखमरी, पलायन विस्थापन से लेकर आदिवासी संघर्ष और वहाँ के जन आदोलन की आवाज भी सुनाई पड़ती है। एक सोशल एक्टिविस्ट व जर्नलिस्ट होने के नाते अशोक सिंह जमीन से जुड़े हैं। इसलिए आदिवासियों के जीवन और संघर्ष को उन्होंने न सिर्फ करीब से देखा परखा है, बल्कि उस पर शोध अध्ययन जैसे गंभीर कार्य भी वे करते रहे हैं। यही वजह है कि आदवासी मुद्दों पर गहरी पकड़ और समझ तो उनमें है ही, उनकी संवेदना में भी वे बहुत करीब हैं। सभा–सेमिनार में ही नहीं, जुलूस धरना प्रदर्शन में अक्सर जाना और वहाँ आदिवासियों के संघर्ष को सुनना–गुनना उनकी दनचर्या का एक हिस्सा है। संग्रह के नामकरण से जुड़ी कविता असहमति में उठे हाथ, एक राजनीतिक जनसभा में दो आदवासी युवक की बातचीत, हाशिए पर रह रहे भूखे बदहाल लोगों से, एक खुला पत्र : चौक पर पथराये सिदो–कान्हो के नाम, बिचौलिये, छोटे लोग, उसका मारा जाना तय था और संताल परगना का दु:ख आदि कविताएँ, उनके सोशल एक्टिविजम के तहत, संभवत: ऐसे ही कार्य–कलाप से ऊपजी कवताएँ हैं, जिसमें तथ्य भी है, सत्य भी और कथ्य भी। तथ्य, सत्य और कथ्य के साथ–साथ कवि की संवेदना भी है, जो अपने शोध अध्ययन से जुड़े विषय–वस्तु को कविता का स्वरूप देने में सफल रहे हैं।

'असहमति में उठे हाथ' की कविता से गुजरते हुए यह होता है कि कवि की विचारधारा व जनपक्षधरता क्या है और किधर है। उसका सामाजिक और लेखकीय सरोकार कितना स्पष्ट, गहरा और प्रतिबद्ध है। कवि के लेखकीय सरोकार और प्रतिबद्धता की एक और बानगी देखिए–''यह तय है कि / सब कुछ तय कर लिया जायेगा तय करने से पहले / तय कर लिया जायेगा / क्या करवाना है तय / कैसे और किसके पक्ष में / यह भी तय रहेगा कि कौन रखेगा प्रस्ताव / और कौन करेगा समर्थन / लिखेगा कौन सभा की कायवाही / कौन लिखवायेगा / क्या लिखवायेगा / सब कुछ तय रहेगा / तय करने से पहले / इस तरह जबकि तय है / कि सब कुछ तय किया रहेगा / हम सबसे तय करने से पहले / और उन्हीं का तय किया हुआ होगा / अंतिम रूप से तय और मान्य / तो क्षमा करना दोस्तो! इस तयशुदा ढंग से प्रायोजित सभा में / शामिल नहीं हो सकता मैं तुम्हारे साथ / तुम्हें जाना है तो जाओ! तुम्हें जाना है तो जाओ !!''

इतना ही नहीं कवि की जनपक्षधरता देखना हो तो उसकी कविता 'जब भूख पर चर्चा होगी' में उसको देखिए, जिसमें कवि कहता है–''जब हम रोटी की बात करते हैं / तो जाहिर है / हम भूखे लोगों के पक्ष में खड़े होकर / अघाये लोगों से बहस करते हैं / अघाये लोग का तर्क है/ कि रोटी पर बहस करना / रोटी की राजनीति करना है / अगर यह सच है / तो मैं ऐसी राजनीति के पक्ष में हूँ /अब देखना है कि हमारे पक्ष में कौन–कौन हैं?''

समय के बदलते दौर में कवि उस स्थिति को भी देखने–दिखाने की कोशश करता है, जिसमें शासन–प्रशासन, सत्ता व व्यवस्था द्वारा धकियाये गये ऐसे लोग जाग गये हैं। उनके भीतर की चेतना जाग गई है और वे ऐसे हालात पर आपस में चर्चा–परिचर्चा और संवाद करने लगे हैं। अब वे अपने बीच के वैसे दिसोम गुरु और दिसोम दादाओं को जानने–पहचाने लगे हैं, जिनके बीच वर्षों से महज वे एक फूटबॉल बनकर रह गये हैं। एक ऐसा ही जीवंत दृश्य उपस्थित करती कविता एक राजनीतिक जनसभा में दो आदवासी युवक की बातचीत देखिए–''हम आदिवासी लोग फुटबॉल बन गये हैं दादा / फुटबॉल बन गये हैं हम आदवासी लोग / राजनीत के उस विशाल मैदान में जो हमारे गाँव से राँची / और राँची से दिल्ली तक फैला है / फुटबॉल बन गये हैं हमलोग।'' अपने ही जाति–समुदाय के धुरंधर / राजनीतिक खिलाड़ियों के बीच कभी–कभी कवि व्यवस्था से लड़ते–भिड़ते हुए 'निराश' और 'हताश' भी हो जाता है। जब उसकी कविताओं से निकली प्रतिरोध की आवाज सत्ता व्यवस्था की सख्त दीवारों से टकराकर वापस उसके पास लौटती और उसके भीतर ही गुम हो तो जाती है, तब कवि का हताश मन गहरे अवसाद से घिर जाता है और ऐसे में कवि खुद अपने आपसे पूछता है–''बोलो! बोलो अशोक सिंह! / बोलो कि व्यवस्था के विरुद्ध हमारी यह चीख / कविताओं के बाद कहाँ जा रही है. ..?'' यह पीड़ा सिर्फ अशोक सिंह की ही नहीं उन जैसे तमाम कवि–लेखकों की पीड़ा है, जो अपनी रचनाओं को आज महज नारे और विज्ञापन बनकर रह जाते हुए देखने को अभिशप्त है। बावजूद एक जिद्द है, जुनून है कि वे रचे जा रहे हैं, व्यवस्था को बदलने की मुहिम में जुटे अपनी वैचारक प्रतिबद्धता के साथ।

सामाजिक राजनीतिक सरोकार और आदिवासियों के जीवन व संघर्ष की व्यथा–कथा से अलग कई और महत्त्वपूर्ण कविताएँ भी इस संग्रह में हैं, जो न सिर्फ हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, बल्कि अशोक सिंह की काव्य संवेदना के विस्तार से भी हमारा परिचय कराती है। विविधताओं से भरी उनकी कविता की दुनिया में भी कई–कई दुनियाएँ हैं जिसमें प्रवेश किये बिना हम कवि और उनकी कविताओं का सम्यक् मूल्यांकन नहीं कर सकते। ऐसे में उनकी कविता–बचपन, एक दिन, लड़कियाँ, कैसा लगेगा तुम्हें, क्या तुमने कभी, घर, धुंधली होती तस्वीर में झांकते हुए, जब–जब पता बदलते हैं करवट, एक पिता का अपराध बोध, टूटा हुआ आदमी, जब तुमने लिखा अपनी हथेली पर मेरा नाम, तुम चाहो तो, हमारे गाँव में भी था एक कबीर, कहीं कुछ टूट रहा है. मैं बचाना चाहता हूँ, पुरखे, आओ हाथ में हाथ लें और काश! इस दुनिया में हर जगह तुम्हारी गोद की शांति और शीतलता होती जैसी कविताएँ अशोक सिंह को नब्बे के दशक के उत्तरार्द्ध और नई सदी के पूवार्द्ध में राष्ट्रीय फलक पर उभरे अपने समकालीन युवा कवियों की भीड़ से अलग पंक्ति में ले जाकर खड़ा करता है। 'बचपन' कविता में

बिम्ब देखिए–''तीस साल पहले / झाड़ी में गुम हो गयी एक गेंद / एक गुड़गुड़ी / जो उम्र की ढलान से गुड़गुड़ाकर / खाई में जा गरी / आम के बगीचे में लगा एक झूला / जिसकी रस्सी टूटकर / झूल रही है अभी भी/ पिता के सपनों में।'' इसी कड़ी में उनकी कविता 'पुरखे' में भी देखा जा सकता है–''परदेश जाते / गाँव की सीमा पर नतमस्तक / मुझे आशीषते हैं मेरे पुरखे / वे अगोरते हैं / खेतों में लगी फसलें / पेड़ों पर लगे फल / वे कभी थे / तो आज हम हैं / जब तक वे बचे रहेंगे थोड़ा भी / हमारी चेतना की अंतिम परत तक में / तब तक मन बँधा रहेगा / सना रहेगा गाँव की मिट्टी से / तन चाहे जितना भी दूर हो गाँव से...।'' लबी–लबी पंक्तियों में वैचारिक कविताएँ कहनेवाले अशोक सिहं छोटी–छोटी पंक्तियों में भी बड़ी बातें कहने की कला बखूबी जानते हैं। भाषा, भाव, शिल्प और संवेदना के स्तर पर उनकी छोटी–छोटी कविताओं का अपना बड़ा महत्त्व है।

कवि अशोक सिंह मूलत: प्रेम और विद्रोह के कवि हैं।लेकिन इस संग्रह से प्रेम कविताएँ बहुत ही कम हैं।ज्यादतर विद्रोह की कवताएँ ही इसमें दिखाई पड़ती हैं। बावजूद इस संग्रह में भी कुछ एक प्रेम कविताएँ आई हैं, जिसकी चर्चा के बिना उनकी काव्य संवेदना की चर्चा अधूरी होगी। इस तरह की कविता में तुम चाहो तो, जब तुमने लिखा अपनी हथेली पर मेरा नाम, सबके जीवन में होती है, कहीं न कहीं कोई एक ऐसी स्त्री और काश इस दुनिया में हर जगह तुम्हारी गोद की शांति और शीतलता होती आदि कविताएँ प्रमुख हैं। ऐसी कविताओं में कवि की सहजता, सरलता और भावों की कोमलता तो दिखती ही है, कविता में बिम्बों का प्रयोग भी देखते ही बनता है।एक कविता 'तुम चाहो तो' में कवि कहता है–''तुम चाहो तो मैं बन सकता हूँ तुम्हारे लिये / एक डायरी / जिस पर दर्ज कर अपना दु:ख हर रोज / हल्का कर सकती हो अपने मन का बोझ / मै हो सकता हूँ / दीवार में ठुकी एक खूँटी भी तुम्हारे लिये / जिसपर टाँग सकती हो तुम / अपने दिन भर की ऊब उदासी और थकान।'' खूँटी पर दिन भर की ऊबी उदासी को टाँगने और फटे समय को दु:ख की सुई से सीने जैसा बिम्ब सचमुच अद्‌भुत और अनोखा है।कुछ ऐसी बातें कवि अपनी एक और कविता में कहता है जब वह जिंदगी की भागदौड़ से थककर अपनी प्रेयसी की गोद में सर रखकर विश्राम करता है। वह जो अनुभव और अनुभूत उसके मन में होती है, उसे बड़े सहज भाव और कोमलता से कवि अभिव्यक्त करते हुए कहता है–''एक बार फिर / तुम्हारी गोद में सिर रखकर / विश्राम करना चाहता हूँ मैं / अपनी ठंडी होती दिनचर्या में / महसूस करना चाहता हूँ / जीवन की गर्माहट / और कहना चाहता हूँ पूरे विश्वास से / इस अविश्वास भरे दौर में भी उम्र के इस चालीसवें वर्ष में प्रवेश करते हुए / काश, इस दुनिया में हर जगह / तुम्हारी गोद की शांति और शीतलता होती!''

इस तरह हम देखें तो जीवन के कोजाल को, अपनी सरलता, सहजता, कोमलता और तरलता में बड़ी बेबाकी और ईमानदारी से शब्द में चित्रित करनेवाले कवि अशोक सिंह समकालीन युवा कवियों में हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण कवि है, जिनकी कविताओं में शब्दों, बिम्बों और भावनाओं की कई आड़ी–तिरछी रेखाएँ हैं, जो कहीं एक दूसरे से जुड़ती है तो कहीं एक दूसरे को काटती भी दखाई देती है।इतना ही नहीं कई चटक और उदास रंग भी इनकी कविताओं में दिखते हैं, उसमें जहाँ एक ओर समय और परिस्थिति के हिसाब से कवि की बनती–बगड़ती मनोदशा को देखा परखा जा सकता है, वहीं दूसरी ओर घर–परिवार, रिश्ते–नाते की टुटन–घुटन और प्रेम पाने की आशा आकांक्षा में जीवन का चढ़ाव–उतार भी।कहीं जीवन का संघर्ष, तो कहीं सत्ता की व्यवस्था से मुठभेड़। कहीं जुलूस धरना प्रदर्शन और आदोलनों के पीछे का सच, तो कहीं असहमति और इनकार।कहीं बचपन की स्मृतियाँ, तो कहीं समय के साथ आधुनिकता की अंधी दौड़ में कई गुम होती जा रही देशज चीजों को बचाने की चिंता।कहीं ईश्वर को नकारने का साहस, तो कहीं अंदर ही अंदर टूटकर बिखरने की पीड़ा।कहीं बिचौलिये की बिचौलियागिरी को बेनकाब करना, तो कहीं छोटे लोग के संघर्ष को देखने–दिखाने और उसके साथ खड़े होने की जनपक्षधरता। कहीं दशाहीन आंदोलन को सही दशा देने का प्रयास, तो कहीं दोहरे राजनीतिक चेहरे वाले राजनेता से सामाजिक राजनीतिक कायकर्ताओं को पहचानने और उससे सावधान रहने की सीख देने का लेखकीय दायित्व। कहीं रोजी–रोजगार की तलाशी में दिल्ली जाकर थकहार वापस घर लौटे अपने मित्र की व्यथा–कथा, तो कहीं विकास की दौड़ में राजनीतिक सौतलेपन की वजह से अपने प्रेम के पिछड़े रह जाने का दु:ख।कहीं जीवन की भूल– भूलैया में खुशियों के गुम होते जाने का गम, तो कहीं आदमी की भाषा में बह रहे आदमीपन की चिंता।कहीं आम आदमी के हक अधिकार के लिए संघर्ष करते जीवट और जुझारू लोग के मारे जाने का आक्रोश, तो कहीं बहुत कुछ करना चाहकर कुछ न कर पाने की पीड़ा और कसमसाहट! कहीं जंगल नदी पहाड़ के उजड़ने, मांदल–नगाड़े की आवाज के कम पड़ते जाने, तो कहीं आदिवासी पहाड़ी लड़कियों के गुम होते जाने की चिंता।इन तमाम चिंता में डूबे और मानवीय सरोकारों से जुड़े कवि अशोक सिंह का कविकर्म और उसके लेखकीय–धर्म को संग्रह की कविता से गुजरते हुए देखा–समझा जा सकता है।

भाषा, भाव, बिम्ब, शिल्प, संवेदना, अनुभव, अनुभूत, देश काल परिस्थिति की समझ और विषय–वस्तु की विविधता के आधार पर इस संग्रह की कविता को देखा–परखा जाय, तो हम पाते हैं कि विषय–वस्तु को लेकर कविता में विविधता तो है ही, शिल्प के स्तर पर भी विविधता साफ दखाई पड़ती है। कविताओं के स्वरूप पर भी बात करें तो जहाँ एक ओर संग्रह में कई छोटी–छोटी कविताएँ हैं, तो दूसरी ओर कई बड़ी–बड़ी लंबी कविताएँ भी इसमें दखाई पड़ती हैं।

कवि के अनुभव, अनुभूत शिल्प और संवेदना की बात करें तो पत्रकारिता और सामाजिक कार्य से सीधे जुड़े होने के कारण कवि का अनुभव जितना गहरा और व्यापक है, उसकी अनुभूति और संवेदना उतनी ही तरल! देश काल परिस्थिति और सत्ता व व्यवस्था की समझ और पकड़ के तो कहने ही क्या है! यह कहने से ज्यादा उनकी कविता को पढ़ने–सुनने और गुनने से महसूस किया जा सकता है। भाषा की बात करें तो कवि की कविताओं की भाषा जितनी सरल है, उतनी ही सहज भी। न कोई बड़बोलापन, न ही नारेबाजी और न ही बौद्धिकता का प्रदर्शन करनेवाली वैचारिकता के बोझ से लदी–फदी बोझिल और घुमावदार भाषा। बातचीत, संवाद शैली और बिम्बों व प्रतीकों के माध्यम से कही गई सांकेतिक भाषा जो अपने कहन और गठन में रचावट व बुनावट की दृष्टि से बहुत ही सहज–स्वाभाविक लगती है। कवि की यह सहजता और स्वाभाविकता ही कवि की मूल प्रकृति व प्रवृत्ति है, जो समकालीन कवियों की भीड़ में अन्य कवियों से उसे अलग करती है।

कुल मिलाकर निष्कर्ष के तौर पर समग्रता में कहें तो एक ऐसे दौर में जब आज असहमतियों को दुश्मनी में बदलकर न सिर्फ लोग को

आपस में बाँटा, बल्कि एक–दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जा रहा है, हर तरफ एक सच्ची न्यायप्रिय और नैतिक आवाज का गला दबाया जा रहा है। युवा कवि अशोक सिंह के इस कविता संग्रह 'असहमति में उठे हाथ' का स्वागत किया जाना चाहिए। इस संग्रह की कविताएँ जहाँ एक ओर लोकतंत्र व राष्ट्रवाद के नाम पर रचे जा रहे ढोंग, छल–छद्म और खोखले आदर्श को सामने लाती है और विषमता व अमानवीयता के खिलाफ अपने समय के तीखे स्वर को पहचान कर उसे आम जनता की मुखर आवाज बना देती है, वहीं दूसरी ओर झारखंड की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विसंगतियों और वर्षों से आदिवासियों के नाम पर चल रहे आदिवासी–आदोलन और उसके पीछे के सच को भी शिद्दत से उजागर करती है। वह भी बड़ी ईमानदारी और साफगोई से, इस बड़े सच को स्वीकार करते हुए कि उसकी 'कविता कोई जादुई मंत्र नहीं है, जिसके पढ़ने–लिखने मात्र से ही व्यवस्था बदल जायेगी। बावजूद कवि अपने जीवन और कविता दोनों मोर्चे पर लगातार लड़ते–भिड़ते हुए समानांतर रूप से सजग, सक्रिय व संघर्षरत है। संग्रह की अंतिम कविता 'कोई जादुई मंत्र नहीं है मेरी कविता' जिसे कुछ हद तक कवि के आत्मकथ्य के रूप में भी देखा जा सकता है, कविता में कवि कहता है–''यह सच है दोस्तो / कविताओं से कुछ नहीं होता / स्वीकारता हूँ तुम्हारी बात / वैसे भी कविताएँ / कोई जाइुई मंत्र नहीं होती / कि पढ़ने–लिखने मात्र से ही बदल जायेगी दुनिया / फिर मेरी कवताएँ तो / कविताएँ हैं भी नहीं / मैं तो ठीक–ठीक / कविता की परिभाषा तक नहीं जानता / न ही दर्ज करा रखा हूँ / कवियों की सूची में अपना नाम ही / मेरी कविताएँ जो कुछ–कुछ/ कविता जैसी लग रही है तुम्हें / एक बयान है अपने समय के विरुद्ध / अभिव्यक्ति है / अपने भीतर की हजारों असहमतियों की / एक हस्तक्षेप है / अपने आस–पास की दुनिया में / आवाज है / विपक्ष में बैठे अकेले आदमी की / रोशनी की तलाश में निकले /अंधेरों से घिरे आदमी की बेचैनी है / और तो और / यह भी सच है / कि हम उतरकर सड़कों पर / खुद बंदूक उठा नहीं सकते / पर याद रखना / हजारों सुस्त पड़े हाथ को / आवाज उठाने के लिए तैयार तो कर ही सकते हैं हम।''

पुस्तक असहमति में उठे हाथ (कविता संग्रह)
प्रकाशन वर्ष 2019, मूल्य 200 रुपये
लेखकः अशोक सिंह पृ–136 (पेपर बैक)

गीतें

अंजना वर्मा,
बेंगलुरु, कर्नाटक
मो : 9572991995

वतन जो आजाद है
तुम सुरक्षित रह सको
इसके लिए वे लड़ रहे हैं
चैन से तुम जी सको
इसके लिए वे मर रहे हैं

भूल से भी तुम कभी
उन सैनिकों की बात कर लो
देश को मुस्कान जो
देते हैं उनको याद कर लो
रात–दिन जो मौत को
देते चुनौती लड़ रहे हैं

सिसकती थी संगिनी पर
चल दिए घर छोड़कर जो
दूर अपने जिगर के
टुकड़ों से भी मुँह मोड़कर जो
प्यार रिश्तों का वतन की
सरहदों में भर रहे हैं

नहीं है उनके लिए यह
देश बस माटी का टुकड़ा
यह करोड़ों जनों की
माँ का दमकता सरल मुखड़ा
छातियों पर झेल गोली
बंदगी वे कर रहे हैं

मौत सीने से लगाकर
जो किया करते सवेरा
खून सीमा पर जलाकर
दूर करते हैं अँधेरा
देश की रक्षा सिपाही
जान देकर कर रहे हैं

वतन जो आजाद है
तो है उन्हीं बलिदानियों से
सर उठाकर जी रहे हो
उन्हीं की कुर्बानियों से
सरहदों पर होम अपनी
जिंदगी का कर रहे हैं ।

कचरे में रोटी

तुम कहते हो कि दुनिया, हो गई है इतनी छोटी
क्यों बालक ढूँढ रहा है, कचरे में अपनी रोटी
सबकी मंजिल अमेरिका , इंग्लैंड और जापान
उसको बटोरना ठहरा , टूटा– फेंका सामान
अब चंदा पर भी बंगला, बनवाने की सब सोचें
पर वह तो अपने पैरों , के नीचे धरती खोजे
फिर भी ना कोई शिकवा,कि किस्मत पाई खोटी
क्यों बालक ढूँढ रहा है , कचरे में अपनी रोटी ?

दूध मुँहे को तो दूध नहीं, पर मिल जाता है माँड़
घुटनों चलने से पहले , टाँगे होतीं लाचार
खेलों के दिन जब आए, तो खेल खा गई भूख
पानी भी साफ न मिलता,तन रहा है उसका सूख
डायपर के दिन में भी तो, नीचे ना जुटी लंगोटी
क्यों बालक ढूँढ रहा है , कचरे में अपनी रोटी ?

शीशी–बोतल चुनता है , पन्नी कागज दिन–भर
तन धूल भरा है सारा, कालिख है चेहरे पर
जिस देश का बचपन भूखा,ना पूछो उसका हाल
हल करते रह जाते हैं ,रोटी का कठिन सवाल
ईमान – धरम खा जाए ,यह भूख न होती छोटी
क्यों बालक ढूँढ रहा है , कचरे में अपनी रोटी?

बेमानी है आजादी , नाटक जनता का राज
आहार मिले ना जब तक, झूठा है सारा साज
ऊपर का लेबल कुछ है ,भीतर है कोई माल
जन सेवक ही राजा है , जनता है खस्ताहाल
जनतंत्र के जाल में उलझी, जनता जाती है लूटी
यह बालक ढूँढ रहा है , कचरे में अपनी रोटी ?

समीक्षा

विदेश की धरती पर देश के युवाओं का संघर्ष : इमिग्रेंट

सरोजिनी नौटियाल
आराघर, देहरादून, उत्तराखंड
मो.–9410983596

बहुत दिनों के बाद युवाओं की आकांक्षाओं और संघर्षों पर केन्द्रित कथावस्तु पढ़ने को मिली। विदेश की धरती पर इन संघर्षों में अकेलेपन का एक अदृश्य जोखिम और जुड़ जाता है। एक अजनबी देश के कायदे–कानूनों और फर्जीवाड़ों के बीच में नौकरी धनार्जन के लिए भारत से विदेश जानेवाले युवाओं की दास्तान है 'इमिग्रेंट'। लेखक धर्मपाल महेन्द्र जैन ने बहुत तथ्यपरक तरीके से भारत से सुदूर कनाडा गये अमित के चरित्र के जरिए एक आम भारतीय लड़के की चुनौतियों को विस्तार से रखा गया है। अमित पर परिवार की अपेक्षाओं का दबाव है। उसे पैसा बचाना है। वह चादर से बाहर अपने पैर नहीं जाने देता। सावधानी से खर्च करता है। सस्ती हवाई यात्रा का चयन करता है। शीतरोधी जैकेट और दास्तानों के बिना भी काम चला लेता है। प्रेयसी और मित्रों के बीच अपनी गरीबी की खिसियाहट को अपनी हाजिरजवाबी से ढक देता है। उसे दिल की भी सुननी है। इस पर उसका वश नहीं। क्या करे। यही तो उसकी जिंदगी का वह कोना है, जहाँ पर वह कुछ जी लेता है। वह जवान है और रितु जैसी सुंदर और योग्य लड़की उसका मित्र है। लेकिन रितु को कोई जल्दी नहीं है। जहाँ अमित सीधे विवाह तक पहुँचने लगता है, वहाँ रितु अभी इसके लिए तैयार नहीं है। असल में अमित के लिए रितु किसी बड़ी उपलब्धि से कम नहीं, जबकि रितु के लिए अमित बस एक मनचाहा साथ है।

अमित रितु को किसी भी कीमत पर खोने का जोखिम नहीं उठाना चाहता। वह उसपर अपना स्वामित्व पक्का करना चाहता है, क्योंकि उसका दाँव बहुत कच्चा है। दुनियादारी के हर पैमाने से रितु अपने प्रेमी अमित से ऊपर है। मालिनी सहाय, रितु की माँ की अमित से खुंदक अकारण नहीं है। यह सच है कि अगर प्रेम की कोशिश न हो, तो वह अमित के लिए अलभ्य है।

रितु भारतीय माता–पिता की संतान जरूर है, लेकिन परवरिश से कैनेडियन है। भारतीय संस्कृति से परिचित हैं, लेकिन रहती है विदेशी संस्कृति में। दूसरी पीढ़ी की 'इमिग्रेंट' है सो कनाडा उसके लिए अपना देश है। स्वाभाविक है उसके व्यक्तित्व में जो स्थिरता और आत्मविश्वास है, वह उसको पहली पीढ़ी के 'इमिग्रेंट' अमित से अलग करती है। इसे अतिरिक्त उसकी मजबूत आर्थिकी, पारिवारिक सुरक्षा–सुदृढ़ता और शैक्षिक उपलब्धियाँ उसको व्यक्तित्व की जो दृढ़ता प्रदान करती है, वह भी उसे अमित से अधिक सोच की स्पष्टता और सुनिश्चिता प्रदान करती है। उसने अपनी शर्तें बता दी है। वह कनाडा नहीं छोड़ेगी, माता– पिता को भी नहीं छोड़ेगी और फिलहाल हीलियम थ्री उसकी प्राथमिकता में है। यह केवल रितु का स्वर ही नहीं, स्त्री नव जागरण काल की सुनाई पड़नेवाली गूँज भी है। यह स्त्री की उच्छृंखलता नहीं है। यह स्त्री की जिंदगी पर अपने दावे की घोषणा है। लेखक ने बदलते समय की बदलती स्त्री के इस स्वप्न को बड़े संयत तरीके से कथानक में बाँधा है। रितु अपने गति से आगे बढ़ना चाहती है। वह किसी के दबाव में अपनी गति बढ़ानेवालों में नहीं है, जबकि अमित में उतावलापन है। वह प्रेम को विवाह की परिभाषा में बाँधना चाहता है। जबकि रितु अभी मित्रता की सीमा और निजता से परे नहीं जाना चाहती। इससे भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के बीच के अंतर को भी समझा जा सकता है।

स्वाभाविक भी है रितु वैवाहिक बंधन में बँधने के लिए अभी तैयार नहीं है। हाँ, आश्वासन पूरा है। हालाँकि जैसा कथाक्रम चल रहा था, यह आश्वासन लेखक की मजबूरी लगी। अंतरिक्ष में रितु और जमीन पर अमित को जोड़े रखने की एक महीन लेकिन मजबूत डोरी दिखानी जरूरी हो जैसे कि रितु के चारित्रिक गुण इस डोरी के प्रति पाठक को आश्वस्त करते हैं। रितु विलक्षण है। सुंदर है, उच्च शिक्षित है, लगनशील है, पर्यावरण के प्रति सजग है, क्लीनर्जी जैसे प्लांट की उद्यमी है। अंतरिक्ष तक उसकी सोच की संभावनाओं के नभचर उड़ते हैं। इतना ही नहीं वह मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण भी है। संक्षेप में कहें तो यह कहना उपयुक्त होगा कि वह गुरुदेव टैगोर की सौंदर्य की इस परिभाषा पर खरी उतरती है कि सुंदरता केवल आकृति की नहीं होती। इसमें बुद्धि की स्फूर्ति, चेतना की दीप्ति और हृदय का लावण्य भी होता है।

अमित और रितु उपन्यास के केन्द्रीय पात्र अवश्य हैं, लेकिन चूँकि उपन्यास का फलक बहुत बड़ा होता है, इसलिए 'इमिग्रेंट' में देश–काल के और भी कई दृश्य हैं। अमित के कोलबियन कोकीन की तस्करी के जाल में फँसने से कनाड़ा की पुलिस और न्याय व्यवस्था, जाँच अधिकारियों की जाँच प्रक्रिया, मनोविज्ञान, कैदखाना, कैदखाने के छिपे राज, कैदियों की कुंठा, प्रवृत्ति, गार्ड की सतर्कता और उदासीनता, सबको बड़े विस्तार और तसल्ली से उपन्यास में जगह दी गई है। देखते–देखते 'इमिग्रेंट' उपन्यास से रिपोर्ताज में कायान्तरित होने लगता है। नशे का काला बाजार और अमित जैसे निर्दोष व्यक्ति का उसमें बँधते जाना पाठकों को व्यथित करता है। सावधान भी। 'दूर के ढोल सुहावने' कहावत का मतलब भी समझ में आने लगता है। इस बीच रंगभेद नीति के अंतर्राष्ट्रीय मुद्दे की ओर भी लेखक पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है।

अमित के लिए सबसे बड़ी और एकमात्र राहत जज मिस टेमी का न्याय दर्शन और रितु व उसके माता–पिता का ढाढ़स था। रितु के पिता रघु सहाय ऐन मौके पर अमित के लिए देवदूत बन के सामने आ गये। उन्होंने पेशेवर तरीके से बाजरिए वकील उसकी मदद की। नहीं तो अमित के मैपल एक्सपो के बॉस ने तो सूचना देने पर भी उसकी सुध नहीं ली। अमित खन्ना को एक संकट से निजात दिलाने में उसके मित्र जासूस रथ शर्मा की भूमिका ने जहाँ पाठकों का दिल जीत लिया, वहीं बात की तह तक जाने में रितु की पेशेवर योग्यता को देख पाठक अभिभूत हो जाता है। बॉस डेविड फर्नान्डो के रवैये से अमित को गहरा धक्का लगा और बाद में जो खुलासा होता है, उससे पाठकों को धक्का लग जाता है। विदेश में 'इमिग्रेंट' के साथ हो सकनेवाली इस प्रकार की अप्रत्याशित और खतरनाक घटनाओं को इतने सिलसिलेवार दिखाकर लेखक ने अपने पाठकों विशेषतः युवा पाठकों को तो सावधान किया ही है, 'ऑल दैट गिलीटर्स इज नॉट गोल्ड' कहावत के मर्म को भी अनादृत कर दिया है। इस दृष्टि से 'इमिग्रेंट' उपन्यास की सामाजिक उपादेयता भी खुलकर सामने आ जाती है। निश्चित ही यह पुस्तक भारत के युवाओं के लिए एक ऐसी खिड़की का काम करेगी, जिससे झाँककर वह घर बैठे जानने योग्य कई बातों को जान जाएगा।

कथावस्तु के अनुरूप पात्र सजीव हैं और चरित्र चित्रण प्रभावशाली है। हर पात्र को उसकी पृष्ठभूमि के साथ लेकर चलने में लेखक को सफलता मिली है। पारिवारिक जिम्मेदारियों के दबाव में अमित के स्वभाव की निरीहता, रितु का गरिमापूर्ण व संयत आचरण, रथ का एक साथ खिलंदड़ापन और जुझारूपन, रघु सहाय का गरिमापूर्ण व्यक्तित्व, मालिनी की भारतीय परंपरावादी सोच, सब मिलकर कथाप्रवाह को बनाए रखने में सहायक रहे हैं। मानव मनोविज्ञान की जटिलता प्रेम जैसे समर्पण भाव को भी आत्मसम्मान और संकोच के अंकुश से किस प्रकार रोककर रखती है, यह भी रह–रहकर उभरकर सम्मुख आता है।

जहाँ तक भाषा–शैली की बात है तो 'इमिग्रेंट' की भाषा साफ–सुथरी है। सीधी–सादी है। विषयवस्तु के अनुरूप है। भाषिक कौतुक भी अपनी मौजूदगी से कठिन विषय के तानव को शिथिल करने में सहायक रहे हैं। स्थान–स्थान पर शब्दों की प्रभावपूर्ण प्रयुक्तियों ने ठहरकर उन पंक्तियों को दुबारा पढ़ने के लिए विवश भी किया है। पुलिस और जाँच अधिकारियों की गिरफ्त में फँसे निर्दोष अमित की मन:स्थिति को इससे अधिक प्रभावशाली ढंग से और क्या व्यक्त किया जा सकता है कि 'अमित को लगा कि उसके पाँव नहीं थे और शायद हाथ काट दिये गये थे।'

एक अच्छी बात यह है कि भाषागत त्रुटियाँ न के बराबर हैं बस मनगढ़ंत की जगह 'मनघडंत', 'ऊटपटांग' की जगह 'उटपटांग' और 'पुरजोर' के स्थान पर 'पूरजोर' जैसी चूकें अखर जाती हैं। कहीं–कहीं शब्द को उपयुक्त शब्द से प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता भी अनुभव हुई। 'पहुँच मार्ग', 'अलिखित बालिग शब्दकोश' जैसे नाटकीय भाषिक आग्रहों से भी लेखक को बचना चाहिए था। भाषिक संवेदना पर हमको कथा सम्राट के जीवनी लेखक अमृतराय के द्वारा अनुशंसित सहज भाषा प्रयोग के महत्त्व को समझना होगा।

आज के वैश्विक परिदृश्य में 'इमिग्रेंट' एक सामयिक महत्त्व का उपन्यास है। इसमें वर्तमान समय के कई ज्वलंत प्रश्नों को उठाया गया है। शैक्षिक जगत में व्याप्त फर्जीवाड़े, लोन के पचड़े, अपरिचित माहौल और अनजाने मौसम में अजनबियों के मध्य खुद को साबित करने की चुनौती, जोखिम, छल, प्रताड़ना से जूझते भारतीय युवाओं के संघर्षों का जो चित्र खींचा गया है, वह रोंगटे खड़ा कर देनेवाला है, लेकिन वहीं उनके पूरे होते सपनों को देखना एक आशा का संचार करता है। 'इमिग्रेंट' सकारात्मक और सत्प्रयासों को लेकर मनुष्य के विश्वास को मजबूत करता है। आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल द्वारा प्रकाशित लेखक धर्मपाल महेन्द्र जैन का उपन्यास 'इमिग्रेंट' अपने सपनों के साथ कनाड़ा जानेवाले कई भारतीय युवाओं का यथार्थ है। इस अच्छी रचना के लिए लेखक को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ।

प्रवीण पारीक 'अंशु'
बाईपास रोड ऐलनाबाद, सिरसा (हरियाणा)
मो.–9813561237

ग़ज़लें :

1.
जो कभी बुझती नहीं वो प्यास होती जा रही है
ज़िंदगी अब तो यहाँ बनवास होती जा रही है
जो कभी मज़बूत थी, निरपेक्ष थी, आज़ाद भी थी
वो क़लम जब हुक्मरां की दास होती जा रही है
फ़ख़्र होता था जिन्हें ईमानदारी पर कभी, वो
बात अब ईमान की इतिहास होती जा रही है
हट गई हर एक बाधा देख मेरे हौसले को
दूर थी मंज़िल वही अब पास होती जा रही है
हर तरफ अब मुश्किलें, दुश्वारियाँ, बेचैनियाँ हैं
ज़िंदगी यूँ दर्द का अहसास होती जा रही है
ना बची उम्मीद कोई और ना मक़सद है कोई
बेमानी सी यहाँ हर श्वास होती जा रही है
अब कहाँ अदबी रिवायत, अब कहा वो महफ़िलें हैं
शायरी भी आज़कल बक़्वास होती जा रही है।

2
कल सुबह तो आपके इंक़ार ने चौंका दिया
अब अचानक प्यार के इज़हार ने चौंका दिया
आज उसके मतलबी व्यवहार ने चौंका दिया
ख़ास समझा था जिसे, उस यार ने चौंका दिया
क़त्ल, न ही चोरी, ना ही थी डकैती की ख़बर
वास्तव में आज के अख़बार ने चौंका दिया
हो गई है इस कदर महँगी यहाँ हर एक चीज़
आज इस महँगाई में बाज़ार ने चौंका दिया
दुश्मनों में ही गिना करता था मैं तो आपको
आपके हमपर किये उपकार ने चौंका दिया।

3
प्रियतम का शृंगार नहीं हूँ
मैं फूलों का हार नहीं हूँ
ग़लती मुझसे भी होती है
ईश्वर का अवतार नहीं हूँ
मौत ज़रा तू रुककर आना
मैं अब तक तैयार नहीं हूँ
हाथ मिला लूँ मैं दुश्मन से
इतना भी लाचार नहीं हूँ
दुख का ताना–बाना हूँ मैं
खुशियों का त्योहार नहीं हूँ।

4
ज़िंदगी से अश्क का वो ज़ाम पाया है कि बस
क्या बताएँ किस तरह हमको रुलाया है कि बस
ना ही जी पाए क़सम से और ना ही मर सके
इस क़दर इस ज़िंदगी ने ज़ुल्म ढाया है कि बस
बच निकलने की कोई सूरत नज़र आती नहीं
इस तरह सैयाद ने हमको फँसाया है कि बस
इक़ ज़रा सी रोशनी की आस में ही उम्र भर
तीरगी का भार कंधों पर उठाया है कि बस
लाख कोशिश करके तुमको छोड़ पाए हम नहीं
इस तरह कुछ तुमसे ये रिश्ता निभाया है कि बस
दुश्मनों ने तो क़सर कोई भी छोड़ी थी नहीं
दोस्तों ने भी हमें यूँ आज़माया है कि बस
यूँ हमारी मेहनतों में तो कमी कुछ भी न थी
हाथ की रेखाओं ने कुछ यूँ रुलाया कि बस।

समीक्षा :

एक पुराना मौसम लौटा

(कविता संग्रह)

ज्योति जैन
नन्दानगर, इन्दौर, मध्यप्रदेश
मो.–9300318182

किसी अंधेरी सुरंग के मुहाने पर दूर दिखाई देती रोशनी की तरह की कविताएँ–'एक पुराना मौसम लौटा'।

जब हम पढ़ रहे होते हैं और उसी से संबंधित आसपास कोई घटनाक्रम होता है, तो हमें लगता है कि अरे वाह! यह तो बहुत सुखद संयोग है। पिछले दिनों मेरे साथ ऐसा ही हुआ। मैं शहरयार का नया काव्यसंग्रह 'एक पुराना मौसम लौटा' लेकर बैठी और उन्हीं दिनों बिटिया को बेटी हुई। मुझे ऐसी अनुभूति हो रही थी कि यह किताब भी नई है और शिशु भी नवजात। आमतौर पर नई किताबें कोमल, कमजोर और थोड़ी कच्ची मानी जाती है, ठीक वैसा ही जैसा नवजात शिशु होता है। विचारों के गर्भ से निकली प्रथम किलकारी जैसी ही यह पुस्तक प्रतीत होती थी। मैंने कविताएँ पढ़ना शुरू किया और दो ही दिन बाद मेरी नातिन ने अपनी उंगलियों से मेरी एक उंगली मजबूती से पकड़ ली। तब मुझे अहसास हुआ कि किताब के शब्द भी उतने ही मजबूत थे, जितनी मेरी नातिन की पकड़। यानी दोनों को ही कच्चा या कमजोर समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, ऐसा आभास हो गया था।

जिन्हें आप एक प्रकाशक या संपादक की हैसियत से जानते हों और अचानक पता चलता है कि सैकड़ों पुस्तकों को अपने हाथों से गुजारनेवाले उन हाथों की उंगलियों ने कविताएँ रच दी हैं, तो एक सुखद आश्चर्य हुआ। प्रकाशन के मैनेजमेंट को लेकर पन्नों की सेटिंग, ग्राफिक्स, कवर, लेखकों से माथाफोड़ी, प्रिंटर से दिल्ली, भोपाल बात करना, पार्सल मँगवाना–भेजना, इनके साथी बातों के बीच तितली के परों के समान कोमल अनुभूति अंकुरित हो जाना, किसी परी–कथा जैसा ही लगा था। शहरयार की कविता की पुस्तक आई है, यह जानकर ऐसा ही महसूस हुआ। इसलिए कविताएँ पढ़ने की उत्सुकता और बढ़ गई थी और जब पुस्तक हाथ में आई तो शहरयार की कविताओं से गुजरना मुझे ऐसा लगा जैसे किसी अंधेरी सुरंग के मुहाने पर दूर रोशनी दिखाई दे रही हो और धीरे–धीरे पूरा उजाला फैल गया हो। ये कविताएँ बिल्कुल वैसी ही हैं।

शुरुआत प्रेम से होती है और प्रेम तो वैसी ही इतनी खूबसूरत अनुभूति है कि सारी दुनिया प्रेममय लगने लगती है। जब कविताओं में प्रेम आता है, तो लगता है कि कविता 'श्रृंगारित' हो गई है। उसे आभूषण पहना दिए गए हों। जब मैं उन कविताओं से गुजने लगी, तो किसी पुरुष लेखक द्वारा आभूषणों और सुंदरता के बारे में इस तरह बात करना बड़ा सुखद लगा। जब वे रेहड़ी पर टँगे झुमके की बात करते हैं, तो उन्हें वे चाँद–सूरज जैसे लगते हैं, जिनकी कीमत सिर्फ 25 रुपये हैं; लेकिन देखते–ही–देखते हजारों– करोड़ों के हो जाते हैं। जब वे हरी चूड़ियों पर सुनहरी काम की बात करते हैं, तो लगता है कि कवि के हृदय में कितनी सूक्ष्म दृष्टि है। वे गहनों को कविता की तरह रच देते हैं, जब वे पायल, गालों को छूती नथ, झुमके, चूड़ियों की बात करते हैं। देखिये–''किस तरह खन–खन हरी काँच की चूड़ियाँ / बस दो या तीन ज्यादा नहीं। ये चमकती नहीं/ ये भड़कीली नहीं/ एक गहरा, शांत हरा रंग/ जैसे मानसून के बाद की पत्तियाँ/ और उनपर बहुत महीन सुनहरा वर्क/ जैसे सूरज की पहली किरण किसी पत्ती पर ठहर गई हो।''

या–''रेहड़ी पर टँगी वह झुमका/ ना बहुत बड़ा ना बहुत छोटा/ बस तुम्हारी साँवली गर्दन को नापता हुआ/ तुम्हारे कानों में वह जब झूलता/ तो लगता जैसे सूरज और चाँद मिले हों/ जब वह तुम्हारे कान से टकराता/ तो एक धीमी सी धुन निकलती थी/ वह धुन हमारे इश्क का सबसे महँगा संगीत थी।''

इसी खूबसूरती सें जब वे गुलमोहर की शर्म और नाक के नीचे काले तिल की बात करते हैं, तो लगता है कि इन्होंने इत्र की शीशी का ढक्कन खोल दिया है और खुशबू चारों ओर फैलने लगी है। और तो और दाँत पर चढ़े हुए दाँत यानी नुक्स वाला दाँत भी इतनी खूबसूरती का पैमाना हो सकता है कि उस पर कविता ही रच दी जाए, फिर तो उस कवि की क्या ही बात है। बानगी देखिए–''उन दाँतों के बीच एक तरफ चढ़ा हुआ वह 'छड़ा' दाँत, जैसे किसी मँझे हुए कलाकार ने खूबसूरती में एक छोटा–सा नुक्स छोड़ दिया हो, ताकि नजर ना लगे–वह दाँत हँसी के साथ जब नुमाया जाता है/ तो चेहरे पर एक अलग ही शरारत भर देता है/ मैं अक्सर सोचता हूँ/ अगर उसके दाँत बिल्कुल सीधे होते/ तो शायद वह इतनी 'अपनी' ना लगती।'' यह इसलिए भी सुखद लगता है, क्योंकि मैं उस नायिका को जानती हूँ। जब दाम्पत्य में आप रचे–बसे हों और ऐसी कविताएँ निकलें, तो यह साबित होता है कि दाम्पत्य में प्रेम का रंग और गाढ़ा हो चला है और आनेवाले दिनों में दूर तक इसका रंग और गहरा होनेवाला है।

भूले बिसरे प्रेम या खिलंदड़े दिनों के प्रेम की कविताएँ अद्भुत हैं। ये कविताएँ कवि के प्रति एक सम्मान पैदा कर देती हैं। 'तुम्हारे सुख की ख़ातिर' में पाठकों का दिल भी बैठ जाता है जब वे कहते हैं–''हम साथ थे पर जानते थे यह आख़िरी पड़ाव है/ जब मैंने तुम्हें छोड़कर जाने के लिए कदम उठाया तो वह पहला प्यार था मेरा/ जिसके लिए मैं सचमुच रोया/ दुल्हन के जोड़े में मैं तुम्हें देख लेता/ तो सारे त्याग टूट जाते/ और मैं उस दरवाजे पर खड़ा रहकर/ तुम्हारे नये जीवन को अधूरा नहीं करना चाहता था।'' यह बहुत सुंदर कविता है जो निःस्वार्थ प्रेम की कहानी कहती है। शीर्षक कविता 'एक पुराना मौसम लौटा' गुलज़ार साहब की ग़ज़ल के मिसरे की तरह यादों की पुरवाई में लिये जाती है।

शहरयार की कविताओं में प्रेम के साथ–साथ दोस्ती का रंग भी बहुत अपना–सा लगता है। जब 'पढ़ाकू' या 'जेंटलमेन' जैसे खिताबवाले दोस्तों की याद आती है, जब वे शरीफ से दिखनेवाले 'सरदार' की बात करते हैं या 'अंताक्षरी वाले बेईमान सुलतान' की या 'हम पाँच और हमारी उलझी दोस्ती' की। दोस्तों का रिश्ता सचमुच बहुत अलग होता है। बिना रक्तसंबंध और किसी भी धागे या गाँव के बिना बँधा रिश्ता। ऊँचे–नीचे पथरीले रास्तों पर चलनेवाली दोस्ती की मजबूती ही अलग होती है। दोस्तों के साथ चीटिंग करना, पाला बदलना और खुराफाती शक्लें–बचपन का यह दौर बहुत अलग होता है।

उनकी एक और कविता आत्मा को छू लेती है–'एक लिबास, एक रूह'। आज जब नफरतों का दौर देखते हैं, तो ऐसी कविता सुकून देती है। ऐसा सुकून, मानो किसी की जलती आँखों पर रूई के ठंडे फाहे रख दिये हों। वे स्वयं को वहाँ रखते हैं, जहाँ वे भीड़ में अपनी पहचान के कारण अलग दिखते देते थे। उन्हें डर था कि उनका यह लिबास दिलों के बीच दीवार न खड़ी कर दे, लेकिन वे उन कंधों का शुक्रिया अदा करते हैं, जिन्होंने उन्हें अलग होने का अहसास नहीं होने दिया। यहाँ उनकी भाषा दिल को छू लेने वाली है। वे कहते हैं कि उनके दोस्तों और अपनों ने उन्हें वैसे ही अपनाया, जैसे समंदर लहरों को अपनाता है। बिना यह पूछे कि वे किस किनारे से आई हैं। इसीलिए इन नेक दुआओं को ही वे अपनी असली कमाई मानते हैं। आज के समय में यह कविता बहुत सार्थक है।

संग्रह की आखिरी तीन–चार कविताएँ शायद आज के शहरयार का 'होना' है। वे कविताएँ एक लेखक और प्रकाशक से बढ़कर एक ऐसी शख्सियत को समर्पित है, जिसने शहरयार का भविष्य गढ़ा। शहरयाद ने बहुत ईमानदारी से उस सम्मान को अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। सम्मान उनके लिए जिनकी छत्रछाया में शहरयार ने स्वयं को महफूज पाया। यह वह वटवृक्ष है जिसकी छाया में नन्हें पौधे भी मजबूती से पनपते हैं और वृक्ष बनते हैं।

पंकज सुबीर को समर्पित यह कविताएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी ये कविताएँ इसलिए भी अच्छी लगती है, क्योंकि उनमें 'खाँटी' शब्द हैं। मालवा में बिगड़ैल लड़के को 'ढोर' कहा जाता है। शहरयार ने इस शब्द का प्रयोग अपनी कविता में किया है। वे पंकज जी के लिए लिखते हैं–''मेरा दिल जानता है कि आप वह दरख़्त हैं जिसकी छाँव में एक ढोर लड़कर आज इंसान बन गया।'' इसी तरह तीन पीढ़ियों के विश्वास का अनकहा रिश्ता और 'शिवना' की मेहनत–यह 'अभाव से आसमान तक' की यात्रा है। इन सभी कविताओं में शहरयार ने एक ऐसे व्यक्तित्व को केन्द्र में रखा है जो उनकी जिंदगी में सब कुछ है। मुझे लगता है कि इसी तरह कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए। कृतज्ञता दरअसल हमारी पुरातन परंपरा है और यदि यह कायम रहे, तो इससे अच्छा साहित्य और क्या होगा।

मैं शहरयार के प्रथम काव्यसंग्रह के लिए उन्हें बहुत बधाई देती हूँ। यह तो अभी यात्रा का आरंभ है और मुझे लगता है कि मंजिल पर पहुँचने के वजाय यह यात्रा जारी रहे, इससे अच्छी बात और कोई नहीं हो सकती। तो प्रेम के आरंभ से होती हुई, अपनों के प्रति सम्मान ज्ञापित करती चल रही यह यात्रा निर्बाध जारी रहे, यही शुभकामनाएँ।

समीक्षा

सामाजिक यथार्थ के रिमझिम छींटे: भीगते सावन की कथा–यात्रा

देवेंद्रराज सुथार
गांधीचौक, जिला–जालोर, राजस्थान
मो.–8107177196

सुरेश सौरभ कृत 'भीगते सावन' कथा–संग्रह में संकलित एकादश कथा–रचनाएँ तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य, मानवीय संबंधों को जटिल तंतुओं एवं जीवन के बहुआयामी विविधता का सूक्ष्म एवं यथार्थपरक चित्रांकन प्रस्तुत करती है। यह संकलन मात्र कथा–समुच्चय नहीं, अपितु मानवीय संवेदना, सामाजिक यथार्थ एवं जीवन के विभिन्न स्तरों का सूक्ष्म एवं संवेदनशील आख्यान है। इन कथाओं में भाषिक सौंदर्य, शिल्पगत परिपक्वता एवं कथ्यगत गांभीर्य पाठकों को न केवल चिंतन–मनन हेतु प्रेरित करता है, अपितु उन्हें गहन आत्मावलोकन की दशा में भी अग्रसर करता है।

इन कथाओं की भाषा में आंचलिकता एवं सहजता का अद्‌भुत समायोजन दृष्टिगोचर होता है।रचनाकार ने भावाभिव्यक्ति की सटीकता हेतु सरल, सजीव एवं बोधगम्य भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा एक ओर जहाँ पाठकों को पात्रों एवं उनके संघर्ष से तादात्म्य स्थापित करने में सहायक है, वहीं दूसरी ओर कथानक की गहनता में प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त करती है। अनेक कथा में भावुकता एवं संवेदनशीलता की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है, जो पात्रों की मन:स्थिति एवं समाज के परिवर्तनशील स्वभाव को अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध होती है।

कथा का शिल्प–विधान उत्कृष्टतम है, जिसमें सहजता एवं प्रवाहमयता का अद्वितीय संतुलन परिलक्षित होता है। प्रत्येक कथा का आरंभ पाठकों को एक विलक्षण जगत में प्रवेश कराता है तथा उनका समापन न केवल कथानक को पूर्णता प्रदान करता है, अपितु पाठक के मानस–पटल पर अनेकानेक प्रश्न एवं चिन्तन के बीजारोपण में भी सफल होता है।रचनाकार ने प्रतीकात्मकता का कौशलपूर्ण प्रयोग किया है, जो कथाओं को यथार्थवादी स्वरूप प्रदान करते हुए भी उन्हें दार्शनिक एवं गूढ़ार्थपूर्ण आयाम प्रदान करता है।

कथ्यगत दृष्टिकोण से ये कथाएँ गहन सामाजिक एवं मानवीय समस्याओं को उद्‌घाटित करती है। 'एक था ठठेरा' में पारंपरिक शिल्प–कौशल के महत्त्व एवं औद्योगीकरण की चुनौतियों का हृदयस्पर्शी चित्रांकन है।यह कथा कला एवं अनुभव की अपरिहार्यता को रेखांकत करती है। 'विश्वास लौट आया' आधुनिक जीवन की व्यस्तताओं एवं पारिवारिक संबंधों की उपेक्षा के मध्य उत्पन्न द्वन्द्व को प्रस्तुत करती है।यह आख्यान मानवीय संबंधों की श्रेष्ठता को रेखांकित करती है, जो भौतिक सफलता की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है।

'भीगते सावन' एवं 'औलाद के आँसू' जैसी कथाएँ मानवीय संवेदनाओं, पारिवारिक संबंधों एवं भावनात्मक संश्लेषण को गांभीर्यपूर्वक प्रस्तुत करती है। 'भीगते सावन' में वर्षा का स्वरूप केवल बाह्य दृश्य ही नहीं, अपितु आंतरिक भावनाओं का प्रतीक है। तत्समान 'औलाद के आँसू' संबंधों में विश्वास की महत्ता एवं मिथ्याचरण के परिणामों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती है। 'रैली' एवं 'आतंकी' जैसी कथाएँ समकालीन समाज की विसंगतियों, राजनीतिक स्वार्थपरता एवं आतंकवाद के दुष्प्रभावों को उद्‌घाटित करती हैं। 'रैली' में आदिवासी समुदाय के शोषण एवं उनकी सरलता का चित्रांकन है, जो राजनीतिक अवसरवादिता को निरावृत्त करता है। साथ ही, 'आतंकी' कहानी आतंकवाद के कारण बाल–मानस पर पड़नेवाले भाव एवं मानवीय मूल्यों के क्षरण की ओर ध्यानाकर्षण करती है। 'प्रकाश चला गया' एवं 'पटाक्षेप' जैसी कथाएँ सामाजिक एवं व्यवस्थागत क्रूरता को उजागर करती हैं।ये कथाएँ पुलिस–तंत्र, प्रशासनिक व्यवस्था एवं समाज के उन स्याह पक्षों को प्रकाश में लाती है जो सामान्य मानव–जीवन को दुर्वह बना देते हैं।

इन कथाओं का पठन–पाठन इसलिए आवश्यक है, क्योंकि ये पाठक को परिवेशगत यथार्थ से साक्षात्कार कराती है। ये कथाएँ केवल मनोरंजन अथवा भावुकता के निमित्त नहीं रचित है, अपितु समाज एवं व्यक्तित्व के गहन पक्षों पर चिन्तन–मनन हेतु प्रेरित करती हैं।इन कथाओं में निहित संवेदनाएँ, पात्रों की द्विविधाएँ एवं सामाजिक समस्याओं की प्रस्तुति हमें यह अवबोध कराती है कि जीवन केवल भौतिक उपलब्धियों का पर्याय नहीं, अपितु संबंधों, संवेदनाओं एवं मानवीय मूल्यों की प्राथमिकता जरूरी है।

सुरेश सौरभ की कथाएँ मानवीय दृष्टिकोण से अनन्य है।ये कथाएँ हमें श्रेष्ठतर समाज की परिकल्पना का व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करती है। इनकी भाषा, शिल्प–विधान एवं कथ्य न केवल भावोपात्दक है, अपितु पाठकों के मानस–पटल पर एक स्थायी भाव अंकित करते हैं। इस संकलन का अध्ययन इसलिए अपरिहार्य है, क्योंकि यह हमारे कालखंड एवं समाज का दर्पण है, जो हमें हमारी उत्तरदायित्व एवं मानवीय मूल्यों का स्मरण कराता है। सुधा जुगरान जैसी वरिष्ठ कथाकार ने इस संग्रह में भूमिका लिखकर महनीय कार्य किया है।

'भीगते सावन' (कहानी संग्रह) लेखक– सुरेश सौरभ
प्रकाशन–अद्विक पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड नई दल्ली
मूल्य–160, वर्ष–2024

समीक्षा

हिमाचल के हिन्दी साहित्य का इतिहास

रवि कुमार
बिलासपुर (हमाचल प्रदेश)
मो.–7018528863

अपने गुरुवर डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी को सादर निवेदित, समीक्षित कृति लेखक की अनूठी पुस्तक है जिसमें साहित्य इतिहास लेखन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वर्गीकरण करके लिखने का समुचित प्रयास किया गया है। उल्लेखनीय है कि साहित्य की विभिन्न विधा (कहानी, उपन्यास, आलोचना, साहित्य इतिहास) में पचहत्तर से भी अधिक पुस्तक लिखनेवाले डॉ. सुशील कुमार फुल्ल सन् 1980 में भी 'हिमाचल का हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक प्रकाशित करवाने का प्रयास कर चुके हैं। समीक्षित पुस्तक के गत वर्ष प्रकाशित संस्करण में 424 पृष्ठ थे, जबकि नये संस्करण में अतिरिक्त जानकारी नामक परिशिष्ट सम्मिलित करके पृष्ठ की संख्या 456 हो गयी है।

पुस्तक के श्रीगणेश करते ये लेखक ने साहित्येतिहास लेखन की प्रासंगिकता व आवश्यकता पर प्रकाश डाला है तथा संपादित साहित्येतिहास लेखन की कतिपय कमियाँ के मद्देनजर पाठकों को असमंजस में डालने का उचित तर्क दिया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के अखंड इतिहास की रचना को दुष्कर तो प्रादेशिक साहित्य इतिहास के कार्य को भी अधिक सहज कार्य नहीं माना है। भारतीय हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में प्रादेशिक हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन व प्रदेश स्तर पर केन्द्रीय पुस्तकालय की स्थापना को इस दशा में मील का पत्थर माना है। हिन्दी साहित्य लेखन में काल विभाजन के नये प्रयास से यह पुस्तक और भी चर्चा में आ गई है। इस पुस्तक में निम्न वैज्ञानिक रीति से काल विभाजन किया गया है।

(क) आदिकाल : सन् 1675 से सन् 1900 तक।
(ख) मध्यवर्ती काल : सन् 1900 से 1947 तक।
(ग) आधुनिक काल: सन् 1947 से 2000 तक।
(घ) उत्तर आधुनिक काल: 2001 से...)

लेखक ने हिमाचल के प्रथम आदिकवि चरपट नाथ को माना है जो गुरु गोरख नाथ के शिष्य व 84 सिद्धों में शामिल हैं। इसके अलावा कवि लक्खण, कवि राजा राम, मंगलराय, सुखदेव, उत्तम, रिषदेव डोगरा, गंगादत्त, मनसुख, कांशीराम, गंडा सिंह, कवि रुद्र, गणेश सिंह बेदी, बृजराज, बलदेव सिंह, जगतराम शास्त्री आदि का भी उल्लेख किया है। हरपाल वर्मा द्वारा सितंबर 1964 में प्रकाशित 'हूक' को प्रथम प्रकाशित कविता संग्रह माना है।

इसके बाद वर्ष 1965 में चेतराम भारद्वाज ने 'चातक' कविता संग्रह प्रकाशित करवाया था। श्रीनवास, श्रीकांत, सुंदर लोहिया, पद्म प्रकाश गुप्त अमिताभ, जिया सिदिकी, केशव, अनल राकेशी, रेखा, सत्येन्द्र शर्मा, अवतार सिंह एनगिल, ओम प्रकाश सारस्वत, तुलसी रमण, सतीश धर, अशोक हंस, अरविंद रंचन, दीनू कश्यप, कुमार कृष्ण, परमानंद शर्मा, रामकृष्ण कौशल, चतुर सिंह, नंदेश कुमार, देव बड़ोत्तरा, जगदीश शर्मा, सरोज परमार, सुदर्शन वशिष्ठ , पी.सी.के. प्रे म, राजेन्द्र पाल सूद हंस, रामदत्त शर्मा, कैलाश आहुलवालिया, संसार चंद प्रभाकर, गोपाल नारायण सौरभ, महाराज कृष्ण काव, गिरिधर योगेश्वर, राममूर्ति वासुदेव प्रशांत, धर्म सिंह वर्मा, बलदेव सिंह ठाकुर, कृष्ण गोपाल पीयूष गुलेरी, डॉ. गौतम व्यथित, सी.आर.बी. ललित, तेजपाल शर्मा, मोहन साहिल, सुमन शर्मा शेखर, पुष्पराज चसवाल, दिनेश धर्मपाल, प्रेम भारद्वाज, अनीता महाजन तेगटा, मनोहर सागर शर्मा पालमपुरी, नवनीत शर्मा, गुरमीत वेदी, भगवान देव चैतन्य, रत्न चंद निर्झर, राजगोपाल शर्मा, ओमप्रकाश प्रेमी, रामकृष्ण शर्मा कृष्ण, डी.सी. चम्बयाल, डॉ. मस्तराम शर्मा, राकेश वत्स, डॉ. प्रेम लाल गौतम शिक्षार्थी, डॉ. उमेश भारती, अनूप सेठी, कुल राजीव पंत आशा शैली, डॉ. अरविंद ठाकुर अक्स, डॉ. प्रदीप शर्मा, रीता सिंह, डॉ. कर्म सिंह, द्विजेन्द्र द्विज, अजय पराशर, डॉ. नलिनी विभा नाजली, विनोद प्रकाश गुप्ता, पवनेन्द्र पवन, डॉ. पान सिंह, कुंवर दिनेश, गणेश गनी, विजय विशाल, आत्मारंजन, अजेय, राजीव कुमार त्रिगर्ती, सुरेश सेन निशांत, रमेश चंद मस्ताना, नवीन हलदूणवी, विजय कुमार पुरी, दिलीप वशिष्ठ, जयकुमार, श्रीकांत प्रत्यूष गुलेरी, दीनदयाल वर्मा, पवन चौहान, विक्रम गधानिया, अनल शर्मा नील, चिरानंद, वीरेन्द्र शर्मा वीर, अमरदेव अंगीरस, चन्द्ररेखा ढड़वाल, डॉ उषा कालिया, आनंद सोहर, रवीन्द्र कुमार शर्मा सहित अनेक युवा व नवोदित कवियों का समीक्षात्मक कृति परिचय शामिल है।

कहानी क्षेत्र में चार कहानियाँ लिखनेवाले अमर शिल्पी चंद्रधर शर्मा गुलेरी हिमाचल के प्रथम कहानीकार है। प्रसिद्ध क्रांतिकारी साहित्यकार यशपाल के भी 18 कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। प्रकाशित कृति के आधार पर सुशील कुमार अवस्थी के सन् 1957 में प्रकाशित पहले कहानी संग्रह 'राखी' के कारण उन्हें पहला कहानीकार माना जाता है। सत्येन्द्र शर्मा, खेमराज गुप्त, चंद्रमणि वशिष्ठ, संतोष शैलजा, शांताकुमार, कृष्ण कुमार नूतन, गंगा राम राजी, एस आर हरनोट, राजेन्द्र राजन, मुरारी शर्मा, डॉ. कैलाश आहलुवालिया, विजय सहगल, संसार चन्द प्रभाकर, सुदर्शन वशिष्ठ, पी.सी. के प्रेम, प्रत्यूष गुलेरी, रेखा, बद्री सिंह भाटिया, महाराज कृष्ण काव, हंसराज भारती, श्रीनवास जोशी, राजेन्द्र पालमपुरी, डा.राजकुमार, शक्ति चंद राणा, संदीप शर्मा, मनोज कुमार शिव, डॉ. देवकन्या ठाकुर, श्यामलाल शर्मा सहित अनेक युवा व नवोदित कहानीकार का भी कृति परिचय शामिल किया गया है।

उपन्यास के प्रेम हिमाचली उपन्यास यशपाल को केन्द्र मानकर तीन काल में विभाजत किया है।

(1) यशपाल काल
(2) यशपालोत्तर काल
(3) उत्तर आधुनिक काल।

1954 में कैलाश भारद्वाज का 'मीठा जहर' उपन्यास को प्रथम उपन्यास माना जाता है। कशोरी लाल वैद्य, सतराम शर्मा, मनशा राम अरुण, गंगा राम राजी, राजेन्द्र राजन, एस आर हरनोट, कृष्ण कुमार नूतन, मस्तराम कपूर, सुशील कुमार फुल्ल, शांता कुमार, सुदर्शन वशिष्ठ, केशव, हरिराम जस्टा, कश्मीरी लाल, साधुराम दर्शक, संतोष शैलजा, पी. सी. के. प्रेम, सुदर्शन भाटिया, त्रिलोक मेहरा, प्रिया आनंद, गौतम शर्मा व्यथित, खेमराज शर्मा, जयनारायण कश्यप, सुरेश शांडिल्य, प्रभात शर्मा, डा. पीयूष गुलेरी, मुरारी शर्मा सहित अनेक उपन्यासकार की कृति का परिचय प्रकाशित किया गया है।

एकांकी एवं नाटक में रामकृष्ण कौशल, नरेन्द्र अरुण, काहन

सिंह जमाल, हरिराम जटा, ओमप्रकाश सारस्वत, सुदर्शन वशिष्ठ, कमल हमीरपुरी, अशोक हंस, श्रीनवास जोशी, डॉ. सुशील कुमार फुल्ल, कृष्णचंद महादेविया आदि प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

निबंध साहित्य में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, यशपाल, योगेश्वर गुलेरी, मनोहर लाल, प्रेम पखरोलवी, एस.आर. हरनोट,
सुदशन वशिष्ठ, स्वर्गीय हरिश्चन्द्र पराशर, एन.आर. हतैषी, अनल शर्मा नील, प्रो. नारायण चन्द पराशर, डॉ. शमी शर्मा, गुरमीत वेदी, जयदेव विद्रोही, डी.एस. देवल, डॉ शंकर वशिष्ठ, डॉ. सूरत ठाकुर, भगत राम मंढोत्रा आदि नाम प्रमुख हैं।

हिमाचल की हिन्दी आलोचना को कालक्रम की दृष्टि से तीन भाग में बाँट सकते हैं–गुलेरी काल, यशपाल काल, यशपालोत्तर काल।

चंद्रधर शर्मा गुलेरी हिमाचल के आदि आलोचक व पुस्तक समीक्षा के प्रणेता भी रहे हैं। डॉ. मनोहर लाल, यशपाल, डॉ. शमी शर्मा, डॉ. वंशी राम शर्मा, डॉ. पद्म चंद्र कश्यप, डॉ. हेमराम कौशिक, डॉ. तुलसी रमण, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, डॉ. हरिराम जस्टा, मौलू ठाकुर, डॉ. गौतम व्यथित, डॉ. रमेश अरुण, डॉ. मीनाक्षी शर्मा, डॉ. कांशी राम आत्रेय, अमर सिंह रणपतिया, सुंदर लोहिया, डॉ. सुशील कुमार फुल्ल, डॉ. अनल राकेशी, डॉ. कुमार कृष्ण, डॉ. ओमकाश सारस्वत, डॉ. चमनलाल गुप्ता, डॉ. आशु फुल्ल, प्रत्यूष गुलेरी, गुरमीत बेदी, डॉ. नीरजा, मुरारी शर्मा, डॉ. शंकर वशिष्ठ, अशोक सरीन, राजेन्द्र राजन, विजय ठाकुर आदि का नाम लिया जा सकता है। समीक्षित कृति में हिमाचल देश से प्रकाशित होनेवाली पत्र–पत्रिकाओं की सारगर्भित जानकारी भी शामिल है। दैनिक समाचार पत्र 'दैनिक वीर हमाचल', 'सैनिक समाचार' (साप्ताहिक), 'प्रजामित्र' (पाक्षिक), 'कांगड़ा समाचार' (द्विभाषी पत्रिका), 'विपाशा' (त्रैमासिक), 'हमोत्कर्ष त्रैमासिक) आदि पत्रिकाओं से प्रकाशन शुरू हुआ ऐसा बताया गया है।

बाल साहित्य के क्षेत्र में

मौलिक बाल उपन्यास लेखन में मस्तराम कपूर, संतराम वत्स्य, संतोष शैलजा, सुशील कुमार फुल्ल, गंगाराम राजी, सेन्नी अशेष, अमर सिंह शैल, पवन चौहान, विजय विशाल, गणेश गनी कृष्ण चंद्र महादेविया, हरिकृष्ण मुरारी, रामप्रसाद शर्मा, राममूर्ति वासुदेव यशवीर धर्माणी, पीयूष गुलेरी, प्रत्यूष गुलेरी, कृष्णा अवस्थी, जगत राम आर्य, गिरीश हरनोट, आशा शैली, कंचन शर्मा, अमरदेव आंगिरस, रूपेश्वरी शर्मा, लाल चंद ठाकुर, सरोज परमार आदि प्रमुख है। संस्कृति पर यात्रा वृतांत पर एस. आर. हरनोट, सुदर्शन वशिष्ठ का नाम गर्व से लिया जा सकता है।

व्यंग्य के क्षेत्र में डॉ. मनोहर लाल, रत्न सिंह हिमेश, डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत, सुदर्शन वशिष्ठ, निर्मल असो (अनल सोनी), गुरमीत वेदी, अशोक गौतम, प्रभात कुमार (संतोष उत्सुक), सुदर्शन वशिष्ठ, कल्याण जग्गी, अजय पराशर आदि के नाम प्रमुख हैं।

जीवनी लेखन में जयदेव विद्रोही, डॉ. शमी शर्मा, डॉ. नीलमणि उपाध्याय, पुष्पराज चसवाल, शांताकुमार, डॉ. सुशील कुमार फुल्ल, डॉ. हेमराज कौशिक आदि प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

यात्रा साहित्य में एस.आर. हरनोट, सुदर्शन वशिष्ठ, डॉ. विद्याचंद ठाकुर, रामकृष्ण कौशल, राजेन्द्र राजन, सैन्नी अशेष, गुरमीत बेदी, किशोरी लाल वैद्य आदि प्रमुख हैं।

संस्मरण विधा में रचना पत्रिका के जुलाई दिसंबर सन् 2005 विशेषांक का जिक्र किया गया है, जिसमें 14 संस्मरण प्रस्तुत किए गए। इसके अलावा उत्तर आधुनिक काल के तेईस वर्ष कालखंड के कुछ प्रमुख रचनाकार पर भी कलम चलायी गई है। गत वर्ष में प्रकाशित इस पुस्तक में जानकारी के अभाव से शामिल न किये जा सके हिमाचल के हिन्दी साहित्य के रचनाकार का परिचय विशेष अतिरिक्त परिशिष्ट में देकर इस पुस्तक को विशेष पठनीय व संग्रहणीय बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

लेखक के अथक परिश्रम व लाभ महत्त्वपूर्ण जानकारियों का खजाना समेटे हुए प्रथम बार इतने बड़े फलक को समेटे हिमाचल के हिन्दी साहित्य के इतिहास पर लिखी तथ्यपरक इस पुस्तक का मूल्य केवल मात्र एक हजार चार सौ पंचानवे रुपये बहुत कम प्रतीत होता है। समीक्षक को आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी साहित्य प्रेमियों, प्रतियोगी परीक्षार्थियों, शोधार्थियों व आम जनमानस के लिए एक मनमोहक व चित्ताकर्षक पुस्तक सिद्ध होगी।

'हिमाचल के हिन्दी साहित्य का इतिहास'
लेखक डॉ. सुशील कुमार फुल्ल, प्रकाशक इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली–1100516, मूल्य 1495.00 (एकहजार चार सौ पंचानवे रुपये)

ग़ज़लें :

1.
खेत के संग बँट गये सब खलिहान भी
हो गयी परिवार की पहचान भी
जो पिता का था, कलह में दब गया
माँ के ख़र्चों पर उठा तूफ़ान भी
गुट कई परिवार में अब हो गए
काम मुश्किल हो गए आसान भी
अब बड़ा घर में कोई दिखता नहीं
देखकर हैरान हैं भगवान भी
बस ख़नक सिक्कों की अब भाने लगी
अब उपेक्षित मौन है, अवदान भी।

2
प्यार से मैं क्या भला दूँ प्यार में
कुछ नहीं लायक तेरे संसार में
चाँद तारे, फूल सब बासी हुए
ताज़गी है बस तेरे रुख़सार में
मिल गई तुम तो सभी कुछ मिल गया
डूब जाती नाव यह मँझधार में
देर करने से भला का फ़ायदा
एक चुम्बन तो जड़ो स्वीकार में
तुम किसी वीणा की मीठी तान हो,
झूमती है ज़िंदगी झंकार में
रौशनी राहों में तुमसे है मेरी
कह रहा 'राही' तुम्हें अशआर में।

राजेश जैन राही
रायपुर
मो.–9425286241

समीक्षा

पूस की रात : ठिठुरती संवेदना से उभरती सच्चाई

डॉ. लव कुमार
दुर्गापुर, गढ़बनैली, पूर्णियाँ
मो.–9430276299

प्रेमचंद सच्चे देशभक्त, ईमानदार और आदर्शवादी रचनाकार, समाज–सुधारक और साहित्यिक कर्मयोगी थे। सुधारवादी दृष्टिकोण सदैव उनके सम्मुख रहा और सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखीं। 'कफन', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ', 'अलग्योझा' आदि कहानियाँ प्रेमचंद के मोहभंग की द्योतक हैं, जो यह साबित करती हैं कि उनका मोहभंग व्यापक स्तरों पर हुआ था, क्योंकि इनमें अनेक विश्वासों और आख्यानों के टूटने की अनुगंज है। इसके परिणामस्वरूप ही ये कहानियाँ करुण–त्रासद अंतर्ध्वनियों में लिपटी महसूस होती है। 'पूस की रात' में एक छोटे किसान की कहानी है, जो एक ओर उस व्यवस्था की तस्वीर उघाड़ी गयी है, जिसमें रात–दिन हाड़ गलाकर भी हल्कू जैसा किसान जाड़ों से बचने के लिए कंबल नहीं खरीद पाता, तो दूसरी ओर पूस की वह कड़कड़ाती ठंड का चित्रण है, जिसका प्रतिकार करने के लिए उसके पास जरूरी सुविधा और साधन नहीं है। इस तरह प्रकृति और मानव– निर्मित व्यवस्था के बीच निहत्था तथा निरुपाय हल्कू पूस की ठिठुरती रात में खेत की रखवाली करने के लिए मड़ैया में जबरा के साथ समय काटता है। ठंड से बचने के लिए जबरा को अपनी देह से लगाकर वह ठंड का अस्थायी निदान ढूँढ़ता है, पर उसका यह प्रतिकार क्या उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के विरुद्ध नहीं है? यह प्रतिकार अपनी परिणतियों में भले ही साकार नहीं हो पाता है, परन्तु जबरा से हल्कू की आत्मीयता कहीं गहरी व्यवस्था के प्रति उसकी अव्यक्त प्रतिक्रिया भी है। गरीबों के पक्षपाती प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में अपने समय की सामाजिक, आर्थिक और यथार्थ परिस्थितियों का पूरा चित्रण किया। सामवाद के शिकंजे में जकड़े हुए किसानों की दयनीय दशा का, उनकी अभावग्रस्त जिंदगी का, साधन–सुविधाहीन दिनचर्या का मार्मिक चित्रण कर उन्होंने अपनी सहृदयता, रचनाकार की जागरुकता और संवेदनशीलता का परिचय दिया।

यथार्थवादी पात्र और परिवेश को लेकर लिखी गई कहानी 'पूस की रात' के माध्यम से प्रेमचंद ने साहूकार के चक्रव्यूह में फँसे, कर्ज के बोझ तले दबे और कराहते एक गरीब किसान की दयनीय स्थिति और विवशता का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। इसलिए कह सकते हैं कि यह कहानी प्रेमचंद द्वारा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की राह को छोड़कर यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने की उद्घोषणा है। किसान वर्ग उनकी चिंताओं और रचनाओं के केन्द्र में है और कहानी उसकी इसी चिंता की मार्मिक अभिव्यक्ति है। सहना के उधार के पैसे चुकाने के लिए हल्कू ने अपनी पत्नी से रुपये माँगे और रुपये देने में आनाकानी करने पर एक क्षण के लिए अनिश्चित दशा में खड़ा रहा। एक तरफ पत्नी की मजबूरी, तो दूसरी तरफ सहना का क्रूर बर्ताव असहनीय था। उसका मस्तक दीनता के भार से दबा रहा था। हल्कू दिनभर मजदूरी करने के बाद गरम कपड़े के बिना ही पूस की अंधेरी ठंडी रात में जबरा कुत्ता के साथ अपने खेत की रखवाली करता है। एकांत क्षणों में वह सोचता है कि धनी व्यक्तियों के पास ओढ़ने–बिछाने तथा पहनने के पर्याप्त साधन है, वहाँ जाड़ा पहुँच नहीं पाता, जबकि साधन–सुविधाहीन गरीब लोगों की किस्मत ही खराब है, क्योंकि वे मजदूरी करते हैं और धनी वर्ग मजा लूटता है। जाड़ा पिशाच की भाँति हल्कू को दबोचे हुए था। वह जबरा को उठाकर अपनी गोद में लेता है और दुर्गन्ध के बावजूद सुख तथा अपनेपन का अनुभव करता है। कुत्ते के सान्निध्य से सहज सहानुभूति को प्राप्त कर अब उसे अपनी गरीबी का तनिक भी दु:ख नहीं रहा, जिसके कारण वह आज इस स्थिति तक पहुँचा था। इधर मानवीय सहानुभूति पाकर जबरा के हृदय में भी कर्तव्य का भाव हिलोर लेता है, पर असहनीय ठंड में अलाव से बदन में आई गरमाहट के कारण हल्कू आलस्यवश नहीं उठा और नीलगायें खेत चर गयीं। जबरा भोंककर अपना कर्तव्य निभा रहा था, जबकि हल्कू को अकर्मण्यता ने घेर लिया था। सुबह मुन्नी अपनी खेत को चौपट देखकर उदास हो गयी, किन्तु हल्कू को यह सोचकर सुख मिला कि चाहे वह सालभर मजदूरी करेगा, पर सर्दी की रातों में जागकर खेत की रखवाली नहीं करनी पड़ेगी। इस तरह सर्दी रात में पर्याप्त कपड़ों के अभाव में हल्कू आलस्य और अकर्मण्यता से घिरकर अपनी फसल की रखवाली और सुरक्षा नहीं कर पाता है।

'पूस की रात' में प्रेमचंद कहानी नहीं कहते, बल्कि नायक हल्कू के रूप में वे कहानी को जीते और स्थिति को झेलते भी हैं। वे इसमें किसान के हृदय की अंतर्वेदना को कागज पर उतार सके हैं। कहानी की मूल समस्या गरीबी है और बाकी समस्याएँ गरीबी के दुश्चक्र से जुड़ी हुई हैं। प्रेमचंद ने उस अव्यक्त भयानक सच्चाई को बड़ी तन्यमता से उकेरा है, जहाँ साहूकारों के कर्ज के बोझ तले किसान दबा जा रहा है और साहूकारों के महल आकाशोन्मुख हैं। सारी समस्याएँ आज भी हैं जहाँ महँगाई, कर्ज, आपदा की मार से किसान बदहाल है। उनकी दैनिक जरूरतें खेती से पूरी नहीं होती हैं। आधुनिक किसानों का प्रतिनिधि हल्कू खेती से पलायन कर रहा है और मजदूर बनने को विवश हो गया है। देश के नेता और पूँजीपति आरामगाह में चैन की नींद ले रहे हैं, जबकि किसान आत्महत्या कर रहे हैं। कथानायक हल्कू जिंदगी भर शोषण का शिकार रहने के बाद ऐसी मन:स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे अपने खेत की फसल के नष्ट हो जाने का दु:ख भी नहीं होता, अपितु खुशी होती है कि कम–से–कम अब वह जी भरकर चैन की नींद सोयेगा। दरअसल वह जानता है कि खेत से फसल मिलने पर भी उसे भूख और गरीबी की मार झेलनी ही है। उसे अनुभव होता है कि दूसरों के लिए वह भयानक गरमी, सर्दी या वर्षा में काम करते हुए एक उद्देश्यविहीन और लक्ष्यविहीन जिंदगी जीते हुए अपने सुखों तथा सपनों का बलिदान करता रहा है। जबरा कुत्ते से उसकी आत्मीयता का कारण भी संभवत: यही है कि वह अपनी जिंदगी को कुत्ते के समतुल्य समझ रहा है और मनुष्यों की अपेक्षा कुत्ते को अपने सुख–दु:ख का ज्यादा साझीदार। इसलिए अलाव के पास बैठकर कुत्ते से उसकी बातचीत निरर्थक नहीं, बल्कि सोद्देश्य है। कुत्ता उसे कड़कती सर्दी में न केवल शारीरिक गरमाहट ही देता है, बल्कि मानसिक सुकून

और परितोष भी देता है, जिससे उसे सुख–चैन की नींद मिलती है। इसके विपरीत सूदखोर उसकी तमाम जिंदगी निचोड़कर भी उसे भूख और तिरस्कार के साथ दु:ख एवं उपेक्षा ही देता है। हल्कू की ऐसी मन:स्थिति ही इस कहानी का केंद्र–बिन्दु है और इसे उभारना तथा जीना ही कहानी का प्रतिपाद्य है। किसी आदर्श की स्थापना करने अथवा व्यवस्था–विरोध के प्रति आवाज उठाने या सघन जीवन–संदेश व्यक्त करने के बजाय प्रेमचंद ने इस कहानी को गहरी निराशा, तीखे व्यंग्य, तीव्र संवेदना पर समाप्त किया है जो कहानी–कला की दृष्टि से रेखांकनीय है।

कहानी का शीर्षक पूस की रात की भयंकर ठंड का द्योतक है और सारी घटनाएँ उसी रात घटित भी होती हैं। पूस की ठंडी रात में गरमाहट के लिए हल्कू ने जो उपाय किये, उससे उसकी विवशता और अभावग्रस्तता भी परिलक्षित होती है। गरीबी और अभाव के मार झेलता वह निर्धन किसान कंबल तक खरीदने में असमर्थ है। छल–कपट की बात से कोसों दूर वह डरपोक भी है और सहना को संचित रुपये दे देता है। इसके बावजूद हल्कू आलसी है और दूरदृष्टिहीन भी। मुन्नी अपेक्षाकृत समझदार महिला और तिल–तिल जोड़कर घर चलाने की क्षमता रखती है। वह साहसी भी है और सहना के बर्ताव का विरोध करने से नहीं चूकती। अपनी सहृदयता के कारण ही वह पति को सहना की गालियों से बचाने के लिए जमा किए हुए तीन रुपये देती है। पति–पत्नी की परस्पर विरोधी मन:स्थितियों के आरेखन से कहानी में संघर्ष बना रहता है। सहना से पीछा छुड़ाने की मन:स्थिति में वह भूल जाता है कि खेत में बिना कंबल पूस की रात काटना असंभव है। किसान स्त्री के रूप में मुन्नी की स्पष्टवादिता और अबोधता अनजाने ही प्रकट होती है। शासन किसी का भी हो, पर निरंतर शोषित एवं पद–दलित होते रहने के लिए हल्कू को मेहनत करनी है, सब कुछ करना है, क्योंकि सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक स्थिति ने उसके सामने दूसरा विकल्प ही नहीं छोड़ा है। इस परिस्थिति से मुक्ति पाने के लिए आदमी या तो बगावत करेगा या हल्कू की तरह विवश होकर घुड़कियाँ और गालियाँ सुनेगा अथवा इन सबसे बचने के लिए भविष्य की चिंता छोड़कर तत्क्षण जीवन से पलायन कर जाने का एक विचित्र–सा उपाय खोज लेगा। 'बला से जाड़ों मरेंगे, बला तो सिर से टल जाएगी' सहजता के कारण यह एक सुंदर वाक्य रचना है। 'हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर चला मानो अपना हृदय निकालकर देने जा रहा हो।'–इस उत्प्रेक्षा में उसका सही परिचय और स्थिति अंतर्निहित है। स्पष्टत: हल्कू अपने प्रति भी कम संवेदनशील नहीं है। एकाधिक स्थलों पर उसके कहे शब्द बड़े सार्थक और तत्कालीन स्थिति को उद्घाटित करते हैं। ऐसे कथनों से ही पाठक को इस कठोर सत्य से साक्षात्कार होता है कि जमींदार गरीब किसानों और मजदूरों को किस प्रकार अपमानित करते हैं, उनका पददलन और मानमर्दन करते हैं और वे चुपचाप उनके अत्याचार को सहन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो हल्कू जैसे छोटे किसानों की यह नियति बन चुकी है कि वे सहना की गालियाँ और धमकियाँ सुने।

लेखक ने कहानी को परिच्छेदों में विभाजित किया है जो साभिप्राय है। पहला और चौथा परिच्छेद वस्तुत: हल्कू और मुन्नी की उपस्थिति में कहानी के आरंभ और अंत की निश्चित परिस्थितियों की रचना करते हैं। कहानीकार के सामने जैसा स्पष्ट आरंभ है, वैसा ही असंदिग्ध अंत भी है, परन्तु बीच में वे अधिक सक्रिय और सर्जक रहे हैं। इस अंश में हल्कू की क्रियाशीलता चित्रित है, जो संवेदनात्मक दृष्टि का स्पर्श पाकर अधिक प्रभावी और कथानुभूति का संप्रेषक है। यही अतिशयोक्ति भी अर्थ–समर्थक ही मालूम पड़ती है। आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते हैं।–कहने के बाद हल्कू 'अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े काँप रहा था–कहते ही तारों का और हल्कू का ठिठुरना एकसाथ ध्वनित होता है। इसी भाग में हल्कू का कुत्ते को अपने साथ सुलाना भी उल्लेखनीय है। किसानों का अपने पालतू जानवरों से आमतौर पर ऐसा ही संबंध हुआ करता है। अत: यह सारा वर्णन स्वाभाविक लगता है। कुत्ते के साथ सोना, पूस की ठंडी रात में ठिठुरना, आकाश के तारे देखकर समय का अनुमान करना, चिंता करते हुए और स्वयं को कोसते हुए अंतत: अलाव के पास सो जाना आदि सारी क्रियाओं से हल्कू को गुजरता दिखाकर उसकी चारित्रिक सजीवता सिद्ध की गई है और इसके बाद ही कंबल के अभाव में ठिठुरता निरुपाय–निष्क्रिय चित्रित किया है। ''जबरा अपना गला फाड़े डालता था, नीलगायें खेत का सफाया किये डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शांत बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भाँति उसे चारों तरफ से जकड़ रखा है।'' यहाँ सारा कुछ सूचित होता है, फिर भी कहानी का अंत इस स्थिति में न कर प्रेमचंद ने इस तनाव को आगे बढ़ाया है। खेत का सत्यानाश देखकर मुन्नी के उद्गार में भविष्य की चिंता स्त्रियोचित सहज–स्वाभाविक है। वह उदास है, जबकि हल्कू प्रसन्न। यद्यपि यह प्रसन्नता सतही है, जिसमें नैराश्य कम और यथार्थ की चोट ज्यादा है। व्यापक और गहरी मानवीय सहानुभूति के साथ यह कहानी अपनी कथा–संरचना और अनुभूति सम्प्रेषण में सफल है।

इस कहानी में न यथार्थ की अतिरंजना है और न सरलीकरण की स्वाभाविकता, बल्कि स्थितियों के आदर्शीकरण के बजाय उनका बेहद सटीक चित्रण हुआ है। सामाजिक यथार्थ को झलकाने की अद्भुत क्षमतावाली इस कहानी में प्रेमचंद ने यथार्थ स्थिति के निर्मम विधान को स्वयं ही तोड़कर, आदर्श और नैतिकता के बिंदुओं पर टिकी हुई अपनी ही कहानी की रुढ़ि को तोड़कर, यथार्थ चित्रण और स्थिति–दर्शन का एक नया स्वरूप उपस्थित किया। घटनाओं और स्थितियों के संयोजन द्वारा वस्तुस्थिति और सामाजिक यथार्थ की लगभग अमानवीय–सी तस्वीर को उकेर कर प्रेमचंद ने कथा–संरचना को तोड़ा ही, साथ ही जिस अमानवीकरण का दृश्य उपस्थित किया, वह समाज की आर्थिक विषमता और वर्गीय व्यवस्था की देन है। प्रेमचंद देख रहे थे कि जमीनदार और साहूकारों द्वारा सताया जाता हुआ किसान कैसे मजदूर बनने पर विवश हो रहा है। 'मुक्तिमार्ग' कहानी में जो किसान अपने खेत के साथ रागात्मक संबंध बँधा हुआ था (सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुंदरी को अपने गहनों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहलहाते हुए देखकर होता है), वही किसान 'पूस की रात' में यह सोचने के लिए बाध्य है कि ''यह खेती का मजा है और एक–एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिसके पास जाड़ा जाय तो गर्मी से घबरा कर भागे। मोटे–मोटे गद्दे, लिहाफ, तकदीर की खूबी है। मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें।'' वह लहलहाते खेतों को नीलगायों द्वारा चरता हुआ देखता है और कुछ नहीं कर पाता। इसलिए यह कहानी किसान से मजदूर बनने की विवशता की ही नहीं, बल्कि खेती के साथ जुड़ी उसकी रागात्मक चेतना के धीरे–धीरे समाप्त हो जाने की भी गवाही देती है, जो सहज स्वीकार्य है।

समीक्षा

गिलिगडु : वृद्ध जीवन का स्पर्शित उपन्यास

बी.एल.आच्छा
बिन्नी मिल्स पेरंबुर, चेन्नई (तमिलनाडु)
मो.–9425083335

चित्रा मुद्गल का यह उपन्यास शहरी भारत में वृद्धों की उपेक्षा और पारिवारिक संवेदनहीनता को उजागर करता एक बेहद संवेदनशील और मर्मस्पर्शी लघु उपन्यास है जो आधुनिकता और उपभोक्तवादी संस्कृति की आँधी में खो रहे पारिवारिक संस्कारों और सामूहिकता की सच्चाई को उजागर करता है।

'गिलिगडु' (चित्रा मुद्गल, 2000) का प्रकाशन हुए दो दशक बीत चुके हैं। तब वृद्ध–विमर्श की इतनी चर्चा नहीं थी। न ही विमर्शों से निकलकर ऐसे कृतिसर्जक रचनाओं में उतरते थे।खासकर चित्रा मुद्गल के उपन्यासों की जमीन, क्षेत्रफल और जीवन प्रवाह से गुजरना होता है, तो उसका समाजशास्त्र साथ में चलता ही जाता है।केवल समाजशास्त्र ही नहीं, समाज–मनोवैज्ञानिक के सारे उतरते–चढ़ते ग्राफ भी। गिलिगडु है तो चिड़ियाओं का पर्याय जो केरल के किलिकतु का रूपांतर है।पर इनके बहाने बालजीवन से लेकर वृद्धावस्था में पारिवारिक जीवन में जो उदासियाँ, अकेलापन, रिश्तों–भावनाओं की टूटन, जिंदगी और पारिवारिक–समाजशास्त्र के गिरते मूल्यगत ग्राफ को गहरा एहसास बना देते हैं।

इस उपन्यास का पारिवारिक जीवन में वृद्धों की केन्द्रीयता के पारंपरिक शीर्ष का क्षरण तो है ही, पर उनकी उपेक्षा और अन्यमनस्कता के पसरे हुए मनोभाव संवेदनहीनता के पारिवारिक दृश्य है।बच्चों के जीवन को अधेड़ अवस्था और दांपत्य के सहकार एक उजली राह बनानेवाले माता–पिता के जीवन के वृद्ध वर्षों में कितनी धुंधला देते हैं।लगता है कि जीवन की अनुलोम अनुभूतियाँ कितनी विलोम उदासियों में अपनी साँसें गिन रही हैं। पारंपरिक समाज के नीतिशास्त्र में किसी भी आयोजन, किसी भी सभा और निर्णय में वृद्धों की उपस्थिति अनिवार्यता थी। पर आज के पारिवारिक जीवन में सारी आधुनिकता में पौत्र–पौत्री तक अपने बर्थडे केक के होटलीय उत्सव में बड़ों की उपस्थिति का तिरस्कार करते आधुनिकता का परिचय देते नजर आते हैं।

इस पारिवारिक–सामाजिक संघटना और मूल्यबोध के क्षरण के कई अस्क हैं। चित्रा मुद्गल के उपन्यासों की संरचना केवल त्रिकोणीय–चतुष्कोणीय नहीं होती।हर पात्र का सृजन एक अक्स लिए हुए अपनी भूमिका निभा जाता है।चाहे टॉमी के गले में पड़ी जंजीर हो या बेटे–बहू द्वारा वृद्ध पिता जसवंत सिंह के हाथों में थमाई गई टॉमी को फारिंग करवाने की जंजीर।यह टॉमी तो कम नहीं, मनोभावों और व्यथाओं का मूक प्रवक्ता है। कर्नल स्वामी के जीवन की सैन्य सेवा और जसवंत सिंह की इंजीनियरिंग की सिविल सेवाल में खुले और बंद आकाश हैं।कर्नल स्वामी सुबल की सैर में जसवंत सिंह की चप्पलों के बदले महवृद्धगे बूट, कुर्ते–पायजामे के बदले लक्स कॉटवूल्स और मुलायम इडली के स्वाद से रीतेपन को सहचरीय आत्मीयता में बदल देते हैं।मगर जसवंत सिंह उन्हें अपने घर काफी पिलाने के लिए भी कसमसाते हैं।कर्नल की पोतियों की अपनी उड़ान है और दादा को अप्पू बना देने की मस्ती है।पर जसवंत यदि न्यूज भी सुनना चाहें तो बेटे–बहू ही नहीं टॉमी भी एतराज जतला देता है। ऊपर से बहू की टोक–''बाबूजी! पिक्चर लगा दीजिए न, टॉमी को चुप करने के लिए।न्यूज तो दिन–भर आती है और टॉमी भी क्या कम है, अंग्रेजी न्यूज में खोया रहता है, हिन्दी न्यूज में भोंकना शुरू कर देता है।हिरोइनों को देख झपकी भी नहीं लेता।कर्नल के परिवार खुले–खुले संयुक्त परिवार का मेल और जसवंत सिंह के एकल परिवार में हर सदस्य बिखरा–बिखरा।

औपन्यासिक संरचना में नगर भी पात्र बन जाते हैं। कानपुरिया नगर संस्कृति के आभिजात्य से ग्राम्य सहजता और दिल्ली में अबोला अकेलापन। और कानपुर से दिल्ली में विस्थापन भी जसवंत सिंह की दिवंगत पत्नी के रौब–दाब और पारिवारिक स्नेह की स्मृतियों के साथ।बेटे नरेन्द्र की अम्मा का स्मृति संयोजन भी।माँ और पत्नी रूप के साथ मालकिन छवि की दबंगई और परवरिश के भी अक्स हैं।जसवंत सिंह के लिए कितने पुराने जूते सुरक्षित बंडलों में रख दिये थे उनकी पत्नी ने।मगर दिल्ली के एकल परिवार के अकेलेपन और अबोलेपन में।जसवंत सिंह चप्पल, कुर्ते, पाजामे में सुबह की सैर पर, बवासीर की पीड़ा और टॉमी को बेहद मुश्किल से फारिक करवाने के लिए जंजीर पर कसाव से ब्रेक लगाते हुए। टॉमी के मनोविज्ञान को समझते हुए और लेखिका भी श्वान–मनोविज्ञान के साथ जसवंत सिंह के मनोविज्ञान को परस्पर समझते हुए।

कानपुरिया अक्स का एक कोण है सुनगुनिया का परिवार।दिल्ली के आभिजात्य में सुनगुनिया के बच्चों एवं उनकी गंदगी के लिए कहाँ जगह है।कहाँ वे आत्मीय विश्वास हैं, दुकानदार और ग्राह के बीच।कहाँ वे रिश्ते हैं जो सुनगुनिया के बच्चों के स्कूली नामकरण में रामवती–सोमवती को कुमुदिनी–कात्यायनी की शहराती भंगिमा दे दें।वह भी कानपुर से दिल्ली में विस्थापन के बाद फोन पर बने रहे आत्मीय संवाद में। जसवंत सिंह के परिवार में वात्सल्य उगलने के लिए महज टॉमी है।कर्नल स्वामी के तीन बेटों में भी एक के दो बेटियाँ हैं, दूसरे के बैटे हैं।तीसरा अभी प्लानिंग में ही है। जसवंत सिंह का खालीपन और कानपुरिया यादों में सुनगुनिया के तीन बेटे–बेटियाँ।हालाँकि पत्नी दिवंगत है, कर्नल स्वामी और जसवंत सिंह के जीवन में।यह पात्र संरचना जसवंत सिंह की वृद्धावस्था में कितना खालीपन, कितना अकेलापन, कितनी संवादहीनता गहरा देती है। वृद्धावस्था में स्नेह बरसना भी चाहे तो भीतर में बचपन में मनोग्रंथि उगाये बेटे और बहू की कैसे परसे?

ये समानांतर कथानक, पात्र संरचना इस उपन्यास में प्रायोजित हैं। कन्ट्रास्ट के विषम रंग भरने के लिए परिवेश और वर्गीय पात्र ही काफी नहीं हैं।बदलते समय की अंतर्ध्वनि को समय की प्रतिध्वनि के लिए लेखिका ने उन बाल–पात्रों को सिरजा है। जरा शीर्षक की ओर लौटें, गिलिगडु या कलिकतु दो चिड़ियाएँ हैं, अपनी फुदक और स्वर की रागिनियाँ। दादा के साथ कितना खेलती हैं।दोनों पोतियों को वे ही जूते चाहिए, सो भी बाजार में जाकर। मैकडोनल्ड्स में बने चिकन बर्गर, फ्रेंच फ्राई और आइसक्रीम के साथ और जसवंत सिंह के सामने जीवन का संवादहीन पठार है बिना हरियाली का।

उपन्यास की संरचना में ये कंट्रास्ट हर स्तर पर पात्रों की मनस्थितियों को गहराई से बुनते हैं। इसीलिए जसवंत सिंह और कर्नल स्वामी के कथानक जितना जुड़ते हैं, उतना ही जसवंत सिंह के रीते मन को झनझना देते हैं। कितना खालीपन है, जो सुबह की सैर के लिए कर्नल की प्रतीक्षा से भरता है।रिश्तों में कितनी आकांक्षा है, जो कर्नल द्वारा लाये गये बूट, लक्स कॉटवूल्स, इडली के स्वाद और मेकडॉनल्ड्स प्रसंग में क्षतिपूर्ति

कराते महसूस होते हैं और कर्नल की दोनों पोतियों के किस्से तो चहचहाहट भर देते हैं। पर शेष समय में तो रिश्तों का मरुस्थल ही है जीवन।

स्मृति और समकालीन जीवन इस उपन्यास में गुंथे चले आते हैं। जसवंत सिंह न तो बेटे नरेन्द्र की अम्मा को भूल पाते हैं , उसके दबंग पारिवारिक प्रबंधन को, न तत्कालीन जीवन में पत्नी या संतान की जरूरतों को। कर्नल स्वामी द्वारा सैर के लिए लाए गये जूते और पत्नी द्वारा सुरक्षित रखे हुए जूते इस व्यथा को कह जाते हैं। पर बहू–बेटे को इतनी कमाई और स्वतंत्रता के बावजूद परवाह कहाँ है। बेटे को वह स्मृति कौंधती ही नहीं, जो हॉस्टल के दिनों में अम्मा के शकरपारे और कटहल के अचार से ममत्व का स्वाद रचा जाती थी। न पिता के ईमानदार चरित्र का बोध, जिनके त्याग ने बेटे को इंजीनियर बनाया। न वह विकार जो जसवंत सिंह को रिश्वत और वासनाओं के भोग में भटका सकता था।

स्मृति का एक कोण आज के बिखरते पारिवारिक जीवन और वृद्धों को काटनेवाले एकांत की कसमसाहट से संवेदनशील अकेलेपन तक आता है। कर्नल स्वामी की दोनों पोतियाँ मेकडॉनल्ड में पसंद की चीजें खाकर और आइसक्रीम पाकर ही अपने जूतों की जिद पूरा करती हैं, तो जसवंत सिंह के पौत्र मलय के जन्मदिन का प्रसंग आ टपकता है। दादा द्वारा मेक्डोनल्ड में पार्टी आयोजित करने का प्रस्ताव कितनी मायूसी में बदल जाता है–''न न दादा! अपने साथ हम किसी भी बडे को नहीं ले जाएँगे। पार्टी बेरंग हो जाएगी।'' पारिवारिक पीढ़ियों की संधियाँ कितने विच्छेद में भविष्य का परिवार गढ़ रही हैं, यह तो लक्षित है। पर इसी टूटन और संवेदनहीनता के साथ बरबस यह लेखकीय पीड़ा समय का बोध बन जाती है–''बुद्धि विकास की आड़ में बड़ी खूबसूरती से बच्चों को संवेदनाच्यूत किया जा रहा है। इतना कि बच्चे कभी परिवार में न लौट सके, न कभी अपना कोई परिवार गढ़ सके।'' चित्रा मुद्गल ने वृद्धावस्था के उदास रंगों में कर्नल स्वामी के परिवार का इस तरह विन्यास किया है कि आनेवाली पीढ़ी उजास, उल्लास और रिश्तों की संधियों के रसायन में मचल जाएँ।

यह लघु उपन्यास ही है, पर अपनी बुनावट में इतने पार्श्व उभरता है कि वृद्ध–विमर्श का बोध संवेदनीय कथानक में असरदार हो जाता है। चित्राजी के पास समर्थ चित्रभाषा है, भावनाओं की धुली हुई वह लैंग्वेज है जो मन:स्थितियों को उभार लेती है। वे संवाद जो उदासियों और प्रफुल्लता को सहचर बना देते हैं। सुबह की सैर के लिए कितनी गहरी प्रतीक्षा। मित्र के अकेलेपन में सारे स्वादों को प्रफुल्लता में बदलने का मित्र भाव जो दो वृद्धों का सहकार बन जाता है। इतना ही नहीं टॉमी और जसवंत सिंह के सहकार के अपने–अपने मनोपाठ खिंचती शिथिल होती अंजीर से व्यक्त हो जाते हैं। किसी भी कथानक की सफलता इसी बात में है कि अपनी बहुकोणीय बुनावट में संवेदनीय ज्ञान को, चैतस प्रतिबोध को पाठकीय संवेदन का प्रतिफलित बनादेता है। गिलिगडु अपने लघु आकार में वृद्ध विमर्श का प्रतिनिधि उपन्यास है।

कविता :

विवशता

मुझे पिंजरे में ही रहने दो
जीवन मेरा है, मुझको भी
कुछ कहने दो
मुझे पिंजरे में ही रहने दो

मैं मुक्त गगन का पंछी था
फिर पिंजरे में क्योंकर आया
क्यों फुदक–फुदककर गाता हूँ
दासों का जीवन क्यों भाया
मेरी पीड़ा का भान अगर
ये हवा यथावत् बहने दो
मुझे पिंजरे में ही रहने दो

छोटी है चाहत जीवन की
जो चाहा वो मिल जाता है
पिंजरे के मालिक की खातिर
मुझको गाना ही भाता है
मत खोलो पट इस पिंजरे का
बस बंद, बंद ही रहने दो
मुझे पिंजरे में ही रहने दो

बाहर मृत्यु का भय कितना
तुझको इसका कुछ ज्ञान नहीं
कुत्ते, बिल्ली, गिध, चील–बाज
छोड़ेंगे तेरे प्राण कहाँ
जीवन के बिना आजादी की
नकली दीवारें ढहने दो
मुझे पिंजरे में ही रहने दो।

प्राण मोहन प्रीतम
मुक्तानगंज, भागलपुर
मो.–7301170030

अनुबन्ध :

डॉ. जेन्नी शबनम
दिल्ली
मो. 9810743437

मेरी आज़माइश करते हो

ग़ैरों के सामने इश्क़ की नुमाइश करते हो
क्यों भला ज़िन्दगी की फ़रमाइश करते हो

इश्क़ करते नहीं ईमान से तुम कभी
और खुद ही उस खुदा से नालिश करते हो

ग़ैरों की ज़मात के तुम मुसाफ़िर हो
अपनों में आशियाँ की गुंज़ाइश करते हो

ज़ख़्म गहरा देते हो हर मुलाक़ात के बाद
और फिर भी मिलने की गुज़ारिश करते हो

इक़ पहर का साथ तो मुमकिन नहीं
मुक़म्मल ज़िन्दगी की ख़्वाहिश करते हो

तुम्हें तो आदत है बेवफ़ाई करने की
और 'शब' की बफ़ा की आज़माइश करते हो।

कोई बात बने

ज़ख़्म गहरा हो औ ताज़ा मिले, तो कोई बात बने
थोड़ी उदासी से, न कोई ग़ज़ल न कोई बात बने

दस्तूर–ए–ज़िन्दगी, अब मुझको न बताओ यारो
एक उम्र जो फिर मिल जाए, तो कोई बात बने

मौसम की तरह हर रोज़, बदस्तूर बदलते हैं वो
ग़र अब के जो न बदले मिज़ाज तो कोई बात बने

रूठने–मनाने की उम्र गुज़र चुकी, अब मान भी लो
एक उम्र में जन्म दूजा मिले, तो कोई बात बने

उनके मोहब्बत का फ़न, बड़ा ही तल्ख़ है यारो
फ़क़त तसव्वुर में मिले पनाह, तो कोई बात बने

रख आई 'शब' अपनी ख़ाली हथेली उनके हाथ में
भर दें वो लक़ीरों से तक़दीर, तो कोइ बात बने।

समीक्षा

आदिम सभ्यता के लोग

डॉ. अरुण कुमार वर्मा
संप्रति–प्रवक्ता (हिन्दी) जवाहर नवोदय विद्यालय
पदमी, मंडला (म.प्र.) मो9754128757

आदिम सभ्यता के लोग'' राकेश भ्रमर जी का कहानी संग्रह है। यह परिंदे प्रकाशन नई दिल्ली से 2022 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में दस कहानियाँ संगृहीत हैं। ये कहानियाँ मध्यमवर्गीय जीवन शैली से उपजी विद्रूपताओं और वैश्विक मिली–जुली संस्कृत से प्रभावित जीवन की जटिलताओं के साथ आगे बढ़ती हैं। इसका असर शहर, महानगर तथा ग्रामीण परिवेश में किसी–न–किसी रूपों में देखा जा सकता है। टूटते संयुक्त परिवारिक मूल्यों ने लोगों के जीवन को एकाकी बनाया है। इस संग्रह में कहीं माँ–बाप के अकेले होने का दर्द है, तो कहीं प्रेम की मर्मस्पर्शी छुवन, टूटन तो कहीं अपरिपक्व प्रेम की छटपटाहट। यह समस्या क्या गाँव क्या शहर, क्या पढ़ा, क्या बगैर पढ़ा सब जगह उसका दर्द किसी–न–किसी रूपों में परिलक्षित हुआ है। कोरी भावुकता तथा सच्चे प्रेम की विभाजक रेखा कहानी में दृष्टिगत हुई है, तो कहीं परिपक्व प्रेम की स्थापना करते हुए लेखक दिखाई देता है। विवेच्य कहानी संग्रह में निरंतर टूटते पारिवारिक मूल्य तथा मानवीय मूल्य को लेकर लेखक चिंतित है। संग्रह एक ओर सफल प्रेम की संरचना करता है तो दूसरी ओर ओछे प्रेम की असफल अभिव्यक्ति। वैश्वीकरण के कारण समाज में एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ ने भारतीय समाज का ताना–बाना विकृत किया है। संग्रह में जहाँ एक ओर माँ–बाप से विमुख होती औलाद है, तो दूसरी ओर मानव से इतर जीवों पर समर्पित होते चरित्र की स्थापना की गई है। यहाँ सामाजिक एवं परिवार के संबंधों को लेकर खींचतान ही नहीं बल्कि अच्छे लोगों की स्थापना भी है।

विवेच्य संग्रह की पहली कहानी 'आदिम सभ्यता को लोग' है। लेखक ने इसमें पुरुष के मनोभावों को बहुत–बहुत ही मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। कहानी में संगीता ऐसे समाज का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ शादी व्याह को लेकर स्वच्छंदता है। संगीता का पति उसके होते हुए दूसरी पत्नी ले आता है, तो संगीता भी दूसरा पति करके उसका प्रतिउत्तर देती है। रश्मि एक सम्भ्रांत परिवार की महिला है। संगीता के समाज की स्थिति उसे अजीब–सी लगती है, लेकिन जब उसका पति प्रशांत अपने पी.ए. पर फिदा हो जाता है, तब वह भी मध्यमवर्गीय समाज की जकड़न को तोड़कर संगीता के पद चिह्नों पर चलती है। लेखक ने मनुष्य के बाहरी दिखावे को भेद कर अंतर मन में बैठे भावों को इस कहानी के माध्यम से सामने लाने का कार्य करता है। लेखक यह दर्शाने का प्रयास किया है कि आदिम सभ्यता से लेकर आज तक इसमें बदलाव नहीं आया है। शरीर की आग को पेट की आग से भी ज्यादा खरतनाक बताया गया है। रश्मि प्रशांत को छोड़कर अपने शादी से पूर्व प्रेमी के साथ लिव–इन–रिलेशनशिप में चली जाती है। मानव के इन भावों की अभिव्यक्ति रश्मि के द्वारा हुई है–''तू सच कहती है संगीता, हम अंदर से असभ्य जानवर ही हैं, आदिम सभ्यता के लोग, परंतु जान–बूझकर तो मक्खी भी नहीं निगली जा सकती।'' इस तरह से लेखक मन के चोर को सामने लाने का कार्य किया है।

'मन की बात' कहानी में प्रेम और पारिवारिक संबंधों के बीच संघर्ष को दिखाया गया है। राजेश भाई के लिए अपने प्रेम की कुर्बानी दे देता है। जिससे वह प्रेम करता है, उसकी शादी उसके बड़े भाई से हो जाती है। राजेश संकोच में अपने प्रेम की बात को परिवार से बता नहीं पाता और निशा के प्रेम में अंदर से घुटता रहता है। निशा भाभी बनकर घर में आ जाती है। मन की बात कहानी का कथानक सरल और सहज है, परंतु उसकी मार्मिकता हृदय को छू जाती है। भ्रमर जी ने कहानी का अंत फिल्मी अंदाज में किया है, जिससे पाठक आत्मसंतोष से भर उठेगा। ''संकल्प'' कहानी एक ऐसे युवक की कहानी है जो सिविल सर्विस की तैयारी करता है। तैयारी के समय व्यक्ति सेलेक्ट होने या न होने के बीच संघर्ष करता रहता है। उस समय की मनःस्थिति का लेखक ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। ऐसे लड़कों पर शादी के लिए कम ही लड़कियाँ अपना दाँव लगाती हैं। रिचा के पिता ने मोहित पर दाँव लगाया। उसकी मंगनी हो गई, लेकिन कुछ दिन के अंतराल पर उन्हें नौकरी करने वाला लड़का मिल गया। लड़के की नौकरी तो प्राइवेट थी, परंतु यह निश्चिंतता थी कि वह कुछ कर रहा है। मोहित और उसके परिवार को बिना सूचना के रिचा के परिवार वाले उसकी शादी उस लड़के से कर दी। मोहित के मन में रिचा के प्रेम का अंकुर फूट पड़े थे। मोहित का सेलेक्शन आई.आर.एस. में हो गया। रिचा की शादी हो चुकी थी, परंतु मोहित उससे एक बार अवश्य मिलना चाहता था। इंसान कितने बड़े पदों पर पहुँच जाए प्रेम मन के किसी कोने में स्थाई रूप अपना स्थान बना लेता है। लेखक ने कहानी का अंत प्रेम की इस झलक को दिखाने के साथ किया है। रिचा पति के साथ मोहित को दिल्ली के मेट्रो में दिख जाती है। मोहित उसका सामना नहीं कर पाता है, परंतु मिलने की चाह बनी रहती है। यह संकोच उसके प्रेम को दर्शाता है। जिसे लेखक ने बहुत ही मार्मिक बनाया है।

'आधी रात का सपना' कहानी वर्तमान में चल रहे प्रेम प्रपंचों को अभिव्यक्ति करती है, जिसमें घर वाले किसी दूसरे लड़के से शादी करना चाहते हैं, परंतु लड़की दबाव में हाँ तो कर देती है, परंतु अपने प्रेमी के साथ मिलकर शादी न होने के षड़्यंत्र रचती है। इस तरह की घटना समाज में आए दिन घटती रहती है। प्रेम का यह विकृत रूप समाज में विवादों को जन्म दे रहा है। युवावस्था का आकर्षण उसके जीवन को बर्बाद कर देता है। 'झंझावात' कहानी मध्यमवर्गीय परिवार की कहानी है, जिसमें शादी के बाद लड़की का पूरा झुकाव अपने मैके की तरफ होता है, जिसमें मुख्य भूमिका लड़की की माँ की होती है। वह पूरी तरह से बेटी–दामाद को अपनी तरफ कर लेती है। समाज में इस तरह की घटनाएँ अक्सर देखने को मिलती हैं। 'झंझावात' कहानी में भी रीना के माध्यम से अनिल पर दबाव डालकर उसके पैसे पर नजर रीना के परिवार वाले रखते हैं। जब इनकी जरूरतें होती हैं, तब वे पैसे देने को मना कर देते हैं। उस समय रीना की माँ का व्यवहार बदल जाता है। तब जाकर इनको वास्तविकता का एहसास होता है और दोनों एक नये जीवन के मार्ग पर चल पड़ते हैं, जिससे इनके मन का झंझावात समाप्त हो जाता है।

'राजरानी की गाय' कहानी बहुत ही संवेदनशील कहानी है। अक्सर हम मानते हैं कि शहरी मध्यमवर्गीय परिवार में आधुनिकता के कारण परिवार में बुजुर्गों का सम्मान कम हुआ है, परंतु यह कहानी उस धारणा से परदा उठाती है। ग्रामीण परिवार जिसमें शिक्षा का भी बहुत प्रसार नहीं है। तीन बेटे हैं, तीनों ने माता–पिता के रहते ही उनसे अलग हो गए हैं। पिता के स्वर्ग सिधार जाने पर भी माँ की देखरेख के लिए कोई भी तैयार नहीं होता। माँ इंसान क्या अपने जानवर से इस कदर जुड़ी है कि उसे अलग नहीं करना चाहती। उस परिवेश में भी जब लोग दूध न देनेवाली गाय को छुट्टा

छोड़ देते हैं। राजरानी गाय को अपने दूर करने को तैयार नहीं है। बेटे नहीं, परंतु राजरानी की मदद पड़ोसी करता है। राजरानी का गाय के साथ प्रेम भारतीय संस्कारों का प्रेम है और उसी देश या समाज में नई पीढ़ी माँ से मुँह मोड़ने की परम्परा हम देख रहे हैं। लेखक इस कहानी के माध्यम से ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि वर्तमान में संयुक्त परिवार टूटने का जो दर्द है किसी भी समाज में संभव है और इसी समाज में भारतीय परम्पराओं से जुड़े लोग भी हैं जो जानवर को भी परिवार का हिस्सा मानते हैं। भ्रमर जी ने राजरानी का इतना मजबूत चरित्र उकेरा है। वह गाँव में बसी माँओं से मिलकर एकाकार हो जाता है जहाँ अनगिनत राजरानियाँ अपनी करुणकथा के साथ संघर्षरत हैं। गाय के प्रति राजरानी की ममता के शब्द देखिए–''मेरी बहना तू क्यों इतना मोह में पड़ी है? मुझे भी मोह में डाल रही है। सगे बेटा–बेटी , बहुएँ, पोते, नाती सभी मेरा साथ छोड़ गए, परंतु तू ही मेरा साथ नहीं छोड़ रही है। कौन कहता है कि तू जानवर है। जानवर तो मेरे सगे वाले हैं तू नहीं।''

'संतानहीन' कहानी एक ऐसी माँ की कहानी है जो पैंतीस की उम्र में ही विधवा हो जाती है। देवर और सास–ससुर ने अनुराधा के पति के सारे पैसे हड़प गए। अनुराधा की बेटी श्वेता उस समय दस वर्ष की थी। अनुराधा तृतीय श्रेणी की कर्मचारी थी। बेटी को पढ़ा–लिखाकर बड़ा किया। बेटी को बंगलोर में नौकरी मिल गई। अनुराधा नहीं चाहती थी कि बेटी इतना दूर नौकरी करे। श्वेता धीरे–धीरे अपनी दुनिया में व्यस्त होने लगी। उसने वहीं शादी कर ली और माँ से दूर हो गई। 'संतानहीन' कहानी एक माँ के द्वंद्व की कहानी है जिसमें वह अपनों से ठोकर खाकर पुनः नये रिश्तों की ओर बढ़ती है। एक मजमून लिखकर आत्मसंतुष्ट हो लेती है–''एक संतानहीन सरकारी विधवा के लिए एक जीवनसाथी की आवश्यकता है। उम्र पचास वर्ष जाति बंधन नहीं संपर्क करें।'' भ्रमर जी इस संग्रह में बड़े बेबाकी से निर्णय की तरफ बढ़ते हैं। यह सच भी है कि जब हमारे लिए कोई नहीं है, तो हम भी इस दुनिया के लिए क्यों परेशान हों। इसका उदाहरण इन्होंने 'आदिम सभ्यता के लोग' की रश्मि और 'संतानहीन' की अनुराधा के द्वारा प्रस्तुत किया है। एक अपने पति को छोड़कर दूसरे के साथ लिव इन रिलेशनशिप में रहती है, तो दूसरी अपने बेटी और परिवार की परवाह न करते हुए दूसरी शादी की ओर अग्रसर होती है।

'रिश्तों की कड़ियाँ' कहानी में बहू के वर्ताव को लेकर लेखक ने कहानी का तानाबाना बुना है। शारदा अध्यापिका थीं और उसके पति सुजीत तहसीलदार आफिस में कलर्क थे। बेटे की ाादी इंजीनियर लड़की से कर दी। दोनों बम्बई में जॉब करते थे। माँ अकेली पुश्तैनी घर में रहती थी। बहू–बेटे और उनके बच्चों का व्यवहार माँ के प्रति अच्छा नहीं था। माँ ने अनादर के कारण अपनी सम्पति को ट्रस्ट को देने का निर्णय किया। रिश्तों में इस तरह के व्यवहार के लिए लेखक ने आधुनिक शिक्षा को जिम्मेदार माना है, परंतु शिक्षा से ज्यादा हमारे संस्कार जिम्मेदार हैं। बटोर की हमारी लालसा हमें इस स्तर तक ले जाती है जहाँ रिश्ते, रिश्ते नहीं रह जाते। संग्रह की 'तीसरा पुरुष' कहानी भी बहुत सशक्त कहानी है। वर्तमान में प्रेम का जो फैशन चल पड़ा है, उसमें हर लड़का–लड़की कहीं–न–कहीं एक विपरीत सेक्स के मित्र बनाने की होड़ में रहते हैं। आधुनिकता की इस छलांग में वे भूल जाते हैं कि शादी आकर्षण नहीं एक समर्पण है। प्रीति की शादी उसके माँ–बाप इन्कमटैक्स विभाग में इंस्पेक्टर प्रशांत से उसकी इच्छा के विरुद्ध तय कर देते हैं। प्रीति देवेश से प्रेम करती थी। देवेश और प्रीति ने मिलकर अपने प्रेम का प्रदर्शन प्रशांत के सामने इस उद्देश्य से करते हैं कि जिससे प्रशांत उस शादी को मना कर दे। प्रशांत बहुत संयम के साथ प्रीति से पूछ लिया कि अगर तुम दोनों प्रेम करते हो तो मेरे साथ शादी के प्रति तुम्हार क्या इरादा है। इसका उत्तर तुम शीघ्र दो। प्रीति ने प्रशांत को स्वीकार किया। लेखक ने इस कहानी में प्रेम की स्थापना करते हुए लिखा है–''प्रेम कोई जड़ वस्तु तो नहीं है कि किसी और से नहीं हो सकता। प्रेम तो शादी के बाद भी हो सकता है। विवाह पूर्व के प्रेम में आवेग होता है जबकि शादी के बाद के प्रेम में स्थायित्व।''

'अच्छे लोग' इस संग्रह की अंतिम कहानी है। इस कहानी में लेखक ने अखिला के द्वारा एक ऐसी लड़की का चरित्र उभारना चाहा है जो शादी से पूर्व एक विजातीय लड़के से प्रेम करती थी। जाति समान न होने के कारण दोनों शादी नहीं कर सके। उसके घर वालों ने प्रियांशू के साथ शादी कर दी। अखिला प्रियांशू और उनके मम्मी–पापा से बहुत झगड़ा करती थी। वह अपने पूर्व प्रेमी को भूल नहीं पाई थी जिसके कारण उसका मन अपने ससुराल में लग नहीं पा रहा था। अखिला ने अपने ससुराल वालों पर घरेलू हिंसा का मुकदमा कर दिया था। बात तलाक तक आने के बाद भी प्रियांशू ने अखिला को स्वीकार किया। इस कहानी के माध्यम से भ्रमर जी अच्छे परिवार का चित्रण किया है, क्योंकि आनेवाले समय में यही एक मात्र रास्ता हो सकता, क्योंकि आधुनिकता की जिस अंधी दौड़ हम दौड़ रहे हैं, उसमें ऐसे परिवार ही सफल हो पायेंगे।

'आदिम सभ्यता के लोग' कहानी संग्रह वर्तमान सामाजिक समस्याओं से सरोकार रखती है। मानवाधिकारों पर आज के दौर में कुछ ज्यादा ही ध्यान दिया गया है जिससे समाज की रूढ़ियाँ तो टूटी हैं, परंतु समाज में कुछ ज्यादा ही खुलापन देखने को मिलता है। इसका दूसरा पहलू है, वैश्विक संस्कृतियों का मिलाजुला रूप जिसने अपरिपक्व प्रेम को जन्म दिया है। इसका प्रभाव भारतीय समाज में अपनी दखल दे रहा है। लेखक ने इस अपरिपक्त प्रेम को अपनी कहानियों में स्थान दिया है तथा इसके साथ परिपक्व प्रेम की स्थापना भी की है। इस संग्रह में दूसरी समस्या भारतीय संयुक्त परिवार के टूटने से एकाकी जीवन की समस्या को लिया गया है। इसका प्रभाव गाँव–शहर, गरीब–अमीर, पढ़ा–अनपढ़ सब में देखा जा रहा है। इससे उत्पन्न विकारों को कहानी का विषय बनाया गया है। संग्रह की दस कहानियाँ दस तरह की समस्याओं को लेकर आगे बढ़ती हैं। लेखक ने सिर्फ समस्याओं को ही नहीं उठाया है, उसके समाधान के पहलुओं की स्थापना सूक्ष्मता से किया है। सारी कहानियों में पठनीयता शुरू से अंत तक बनी है। कथानक कसा हुआ तथा वर्तमान से जुड़ा है। कहानियाँ पढ़ते समय हमारे आस–पास की घटनाओं का एहसास कराती हैं तथा कभी–कभी अपने से भी जुड़ी लगती है। कहानी का संवाद पात्रों के अनुकूल है और कहानी की संवेदना को उकेरेने में सहायक हुआ है।

निष्कर्षतः 'आदिम सभ्यता के लोग' कहानी संग्रह में मध्यमवर्गीय जीवन शैली के विभिन्न पहलुओं को केन्द्र में रखकर कथानक निर्मित किए गए हैं। इसमें संयुक्त परिवार के टूटने का दुष्प्रभाव तथा आधुनिक जीवन–पद्धति की विकृतियों से आए सामाजिक बदलाव से उत्पन्न जीवन शैली को बहुत ही सच्चाई से उकेरा गया है। संग्रह की कहानियाँ वर्तमान जीवन मूल्यों से टकराती हैं और समस्या के सकारात्मक समाधान की ओर अग्रसर होती है। लेखक ने कहानी का परिवेश कल्पना लोक से न चुनते हुए हमारे आस–पास तथा समसामयिक घटनाओं से लिया है। कहानी संग्रह में प्रेम के अलग–अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत हुए हैं। लेखक की सहज भाषा शैली कथा के विस्तार में कहीं भी बोझिल नहीं बनाती है, बल्कि इसकी पठनीयता को बढ़ाने में योगदान करती है। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत कहानी संग्रह पाठकों द्वारा सराहा जायेगा। यह उनके मंजोरंजन के साथ–साथ भविष्य की समस्याओं का समाधान प्रदान करने में सहायक होगा।

समीक्षा

चिंतन के नये आयाम : जयकारी

अश्विनी कुमार दूबे
376 बी/आर महालक्ष्मी नगर इंदौर
मो.–94251677003

इधर आधुनिक लेखन हिन्दी लेखन में स्त्री विमर्श पर बहुत लिखा जा रहा है। अबला नारी तेरी यही कहानी....वाली बात अब साहित्य में नहीं रही। इन दिनों नारी के संघर्ष, संकल्प और सफलता की बातें कहीं जाती हैं। जीवन के हर क्षेत्र में नारी ने अभूतपूर्व सफलता पाई है। इधर चूल्हे और चौके में रहनेवाली नारी के किस्से से नहीं लिखे जाते। अब राजनीति, शिक्षा, नौकरशाही, व्यवसाय, खेल और सेना तक में नारी के शौर्य की बातें लिखी और पढ़ी जाती हैं। क्या सचमुच भारतीय समाज में नारी ने पुरुष के बराबरी का एक सम्मानजनक दर्जा प्राप्त कर लिया है? यह प्रश्न आज भी हवा में तैरता रहता है, कहीं बहुत बड़ा और कहीं छोटा।

पूर्व प्रशासनिक अधिकारी और कुशल साहित्यकार सुखदेव प्रसाद दुबे अपने नये उपन्यास 'जयकारी' में इन प्रश्नों से जूझते दिखाई देते हैं। इसके पूर्व श्रीदूबे के तीन काव्य संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हैं। 'स्त्री विमर्श' को केन्द्र में रखकर लिखा गया इनका यह तीसरा उपन्यास चिंतन के नये आयाम प्रस्तुत करता है।

भारतीय संस्कृति में स्त्री को देवी का दर्जा दिया गया है। वह आद्यशक्ति है। वह जगत जननी है। उसके मातृरूप की यहाँ बहुत महिमा है। एक रूप और है उसका वीरांगना का, शक्ति स्वरूपा का। वह दुष्टों का संहार करती है और यहाँ तक की काली के रूप में आततायियों के रक्तबीजों को भी समूल नष्ट कर देती है। हमारा इतिहास में हमें कई वीरांगनाओं से परिचित कराता है। ऐसी समृद्ध संस्कृति और गौरवशाली इतिहास प्रसंगों के बावजूद भारतीय समाज में आज भी स्त्री को अपना अधिकार और सम्मान प्राप्त नहीं हो पाया जो उसे अभीष्ट है। उपन्यास की शुरुआत ... फिर वह लड़की शीर्षक से होती है–

''वो भी काली कलूटी, हड्डियों का ढाँचा
हे माँ! क्या मेरे भाग्य में एक भी लड़का नहीं लिखा। अपनी छठवीं संतान भी लड़की ही होने से लक्ष्मी को गहरा आघात लगा और वह दु:खी होकर चीख पड़ी। वह लगभग बेहोश हो गई थी।
लक्ष्मी के पति नारायण बाबू निराशा के अंधकार में डूब गये। उन्होंने उस लड़की का मुँह तक देखना पसंद नहीं किया था। अपनी प्रिय पत्नी को अकेला छोड़कर वे बड़बड़ाते हुए कमरे से बाहर आ गये। ओह! ये लड़कियाँ यह जानते हुए भी कि यहाँ उनका स्वागत नहीं होता, फिर भी चली आती हैं, रोने और मरने के लिए!
क्या करूँ! गला दबा दूँ। जहर दे दूँ या कहीं नदी–नाले में फेंक आऊँ!
लक्ष्मी, तू भी कैसी अभागी स्त्री है। एक भी लड़का नहीं जन पाई। अरे, यदि यही होना था, तो तू गर्भ में ही क्यों रखे रही इसे?
नारायण बाबू, अपनी प्रिय पत्नी तक को दोषी मानने लगे थे–अरे लक्ष्मी! एक तो विष्णु वंशज बनाया होता।''

यह समस्या भारतीय समाज में शुरू से देखने को मिलती है–वंश कैसे चलेगा? वंश बढ़ाने के लिए लड़का चाहिए। किसी भी प्रकार। पुराने समय में नियोग की प्रथा थी। हमारे प्रसिद्ध ग्रंथों में इसके उदाहरण मिलते हैं। अब आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भ्रूण परीक्षण की प्रणाली विकसित कर दी, जिसके कारण भ्रूण हत्या के बेहिसाब मामले आने लगे। मजबूरन सरकार को उसपर प्रतिबंध लगाना पड़ा। लड़का या लड़की होना एक सांयोगिक मामला है। x-y सेल मिले तो लड़का। यह सिर्फ संयोग है, जिसे हम ईश्वर का विश्वास मानते हैं। मनुष्य का इसपर कोई नियंत्रण नहीं।

उपन्यासकार अपनी कथा नायिका जो कि एक काली कन्या है, इसके माध्यम से संस्कृति, धर्म और समाज में प्रचलित मान्यताओं की व्याख्या करता है। हमारी संस्कृति और धर्म में स्त्री प्रतिष्ठित है। वह देवी है। उसके नौ अलग–अलग रूप बताये गये है। उनके एक रूप शक्तिस्वरूपा है, वह पापनाशिनी है वह अन्याय और अत्याचार के रक्तबीजों को समाप्त करनेवाली है इतनी विशाल महिमा है हमारे धर्म में स्त्री की। परन्तु समाज में हमें कुछ और देखने को मिलता है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री भोग्या है। परिवार में वह दोयम दर्जे की है।। बचपन में वह माँ–बाप के संरक्षण में, युवा काल में उसका स्वामी उसका पति और वृद्धावस्था में वह पुत्रों की देखभाल में जीवन गुजारती है–यही है भारतीय समाज में स्त्री की छवि। लेखक अपने उपन्यास की नायिका के साथ इन रुढ़िवादी मान्यताओं के खिलाफ संघर्ष का चित्रण करता है।

सबसे पहले तो शिक्षा। शिक्षा ही नारी को सबल बनाती है। कथा नायिका कारी मन लगाकर पढ़ती है। उसे शिक्षित होकर सबल होना है। वह सभी परीक्षाएँ अच्छे नंबरों में पास होती चली जाती है और एक दिन उसी कॉलेज में जिसमें उसने शिक्षा पाई थी, प्राध्यापक होकर आती है। वह एन.सी.सी. में भी है एक सबल सैनिक की तरह एक दिन परेड से लौटकर, एन.सी.सी. की ड्रेस में कमांडिंग ऑफिसर का बैज लगाए–कारी अपने वेतन के रुपये तीन सौ लेकर अपनी माँ के पास पहुँची ओर उसके हाथों में रखकर बोली–''ले, इसे अपने लड़के की कमाई समझकर रख ले। अब मैं किसी भी लड़के के समान कमाने योग्य बन गई–लड़का न होने का दु:ख अब भुला दे और उसने अपनी माँ को अटेंशन होकर एक जोरदार सेल्यूट मारा।

लक्ष्मी, अपने कमरे में अकेली अपनी खाट पर बैठी और खाट की तरह टूटी, खाँसी से लड़ रही थी। कारी द्वारा दिये गये सम्मान को देखकर आश्चर्यमिश्रित खुशी से भर उठी। उसकी खाँसी बंद हो गई। कारी ने उसे गिलास में भरकर पानी दिया और खुद पिलाते हुए उसी के पास बैठ गई और पूछने लगी–''माँ! क्या मैं एक बेटे से कम लगती हूँ?''

यहाँ से कथा नायिका का सार्वजनिक जीवन सामने आता है। हालाँकि बचपन से और किशोरावस्था में वह समाज में व्याप्त स्त्री और पुरुष के भेदभाव को भलीभाँति देखती आई थी। इधर अब वह सीधे–सीधे इस विसंगति का सामना करती है। कॉलेज की अपनी राजनीति है। उद्दंड लड़कों का संगठन है। मैंनेजमेंट में पुरुषों का वर्चस्व है।

स्त्री कितनी भी योग्य हो, परन्तु उसे देखने का पुरुषों का पैमाना अलग है। उनकी नजरों में वह भोग्या है, कमजोर है, दोयम दर्जे की है।

''क्या लड़की होना, कुछ भी होना नहीं होता। इतना कमजोर डोर और वस्तु होना होता है कि कोई भी, स्वयं समीप के लोग, संबंधी रिश्तेदार तक, दोस्त, मित्र, परिचित, पुरुष कोई भी, उसका जैसा चाहे, इस्तेमाल कर सकते हैं। अपनी हवस शांत करने के लिए वे उसका कभी भी उपयोग कर सकते हैं। पुरुष मात्र यह कैसे समझ बैठा है कि कोई भी लड़की या स्त्री, कभी भी किसी भी बात का न विवाद बना सकती है, न प्रतिवाद कर सकती है। प्रतिशोध लेने की बात तो उसके दिमाग में आ ही नहीं सकती। क्या स्त्री ने अपनी आजादी हमेशा के लिए खो दी है। क्या हर स्त्री, सदा–सदा के लिए पुरुष की गुलाम बन चुकी है। कारी के भीतर उसका सोया आत्मसम्मान जाग उठा था।''

कारी को लगता है, समाज में व्याप्त विसंगतियों का मूल कारण शिक्षा है। परन्तु वह शिक्षा जगत से जुड़ी है। कॉलेज में प्राध्यापक है। यहाँ वह तीव्रता से यह महसूस करती है कि विश्वविद्यालयों में हम जो पढ़ा रहे हैं, वह शिक्षा नहीं है। वह एक तरह का प्रशिक्षण है, जिससे हम प्रशिक्षित कामगारों की भीड़ बढ़ाते जा रहे हैं। इस तथाकथित शिक्षा से आदमी के व्यक्तित्व का कोई संबंध नहीं है। यह शिक्षा तो एक तरह का ट्रेनिंग मात्र है, इससे आदमी का चरित्र निर्माण नहीं होती शिक्षातंत्र को बदलना होगा और वह सार्थक शिक्षा लागू करनी होगी, जिससे सचमुच चरित्र का निर्माण संभव है। एक जगह कारी अपने कॉलेज के प्राचार्य से कहती है–

''मैडम! हमारी उच्च शिक्षा की संस्थाएँ इतनी गैर गंभीर और गरिमा विमुख क्यों हो रही है? उच्च ज्ञान के स्थान में कुछ भी तो उच्च नहीं दिखता। मास्टर्स की डिग्रियाँ बाँट रहे हैं; परन्तु मास्टर कोई नहीं बन रहा! हमारा महाविद्यालय किस दृष्टि से महाविद्या का आलय है। हालत यह है कि विद्यालय पशु–आलय से लगने लगे हैं। मनुष्य बनाने का कोर्स पढ़ाते–पढ़ाते शिक्षा कहीं पैसा और पशु न बनाने लगे।

मैडम, हमें अपने महाविद्यालय को महान ज्ञान का आलय बनाने के लिए कुछ विशेष करना चाहिए। जल नीचे आकर कीचड़ न बन जाए। उसे ऊपर उठाने के लिए कोई उच्च बल तो लगाना ही होगा।

कारी के प्रयासों से यह बात कॉलेज की प्राचार्या से कुलपति और कुलपति से राज्यपाल तक पहुँचती है। राज्यपाल प्रदेश के सभी कुलपतियों को बुलाकर इस विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित करते हैं। हमारे पास शिक्षा का एक पश्चिमी मॉडल है, जिसे हमने सहर्ष अपना लिया है। अधिकांश कुलपति विकास का हवाला देकर प्रचलित मॉडल का समर्थन करते हैं। बैठक में कुछ लोग कारी के विचारों का समर्थन भी करते हैं; परन्तु शिक्षा का व्यावहारिक प्रारूप किसी के पास नहीं है। काफी विचारोत्तेजक बहस के पश्चात् कारी को शिक्षा का नया प्रारूप बनाने की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। यह अपना प्रारूप बनाकर समय सीमा में प्रस्तुत भी करती है, परन्तु व्यवस्था में 'यथास्थितिवाद' के समर्थक ज्यादा हैं। राजनीतिक अड़चने हैं। सत्ताधीशो के अपने निजी स्वार्थ हैं। इस वजह से कारी का वह प्रोजेक्ट उपेक्षित रह जाता है। इस प्रसंग को लेखक ने बहुत विस्तार से लिखा है, जैसे वह शिक्षा के बदलाव को लेकर अपने इस उपन्यास के द्वारा एक देशव्यापी बहस का आह्वान करता है।

उपन्यास का मुख्य स्वर 'स्त्री विमर्श' का है। अर्थात् समाज में नारी की स्थिति को लेकर चिंता और उपन्यास के मुख्य पात्र 'कारी' के माध्यम से बदलाव की दशा की ओर संकेत। कारी देशभर में भ्रमण करती है। साधु–संतों का रंग–ढंग देखती है। राजनीति के गलियारों में जाती है। नौकरशाहों का व्यवहार देखती है। इस प्रकार वह समाज के विभिन्न क्षेत्रों में स्त्री की अस्मिता को अपने अनुभवों से समझने की कोशिश करती है। सब जगह उसे नारी के प्रति लोगों का दृष्टिकोण दोषपूर्ण दिखाई देता है। बहुत कम लोग ही समाज में नारी के मान–सम्मान के प्रति सजग और उसकी प्रतिभा के पक्षधर मिलते हैं। धीरे–धीरे कारी को लगता है कि नारी का ममतामयी, करुणामयी और प्रेममयी रूप अच्छा है, परन्तु उसका शक्तिस्वरूपा, अन्यायी और दुराचारियों के रक्तबीजों का संहार करनेवाला काली रूप आज के संदर्भ में ज्यादा प्रासंगिक है। इस प्रकार वह उपन्यास कारी नामक एक सुकोमल कन्या जो ममतामयी, करुणामयी एवं प्रेममयी है, के काली रूप में क्रमशः परिवर्तित होते जाने की यात्रा कथा है।

चारों ओर दुराचारी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं। उनका वर्चस्व है। समय की माँग है, नारी को अब घर की चहारदिवारी के बाहर निकालना है। उसे सार्वजनिक क्षेत्रों में जाकर पुरुषों के सामने अपनी कार्यदक्षता रखती है। ऐसे में उसे शक्तिस्वरूपा होना ही होगा। उसके पुराने रूप से अब उसकी रक्षा नहीं हो सकती। वह रूप भी उसका शुभ है, परन्तु उसे अपने अंतर्मन में संजोये हुए उसेकाली के कल्याणकारी रूप में आना होगा। उपन्यास के अंत में कारी यही उद्घोष करते हुए दिखाई देती है–

''शक्तिस्वरूपा स्त्री किसी के अधीन नहीं, किसी की अर्धांगिनी नहीं। पूर्ण स्वतंत्र, पूर्णांगी जगत् जननी है। पौरुष की पालक, पोषक परमेश्वरी है। शक्तिरूप में ही स्त्री जय–विजय प्राप्त कर सकती है।

पुरुषों ने पौरुष अहंकारवश स्त्री को अपनी पसली की हड्डी और अपनी हवस की हाड़ी बनाकर, उसकी शक्ति को सोख डाला है। उसकी स्वतंत्रता को, अपने पास गिरवी रख रखा है। सामरस्य के आदर्श को भ्रष्ट कर डाला है।

स्त्रीतत्त्व के शोषण–दमन की सीमा चली गई है। स्त्री को अब क्रोध आने लगा है। उसकी भृकुटियाँ टेढ़ी होने लगी हैं, उसका माथा तपने एवं खुलने लगा है। स्त्री के ललाट से शक्ति की देवी काली को निकलने से, उसे शक्तिरूपा बनने से अब कोई रोक नहीं सकता–स्वयं स्त्री भी नहीं। स्त्री को अपना जीवन बचाना है, तो उसे अपनी स्वतंत्रता के रण में कूदना ही पड़ेगा और इस रण में अपनी विजय के लिए काली को अपनी अशुभ–संहारक भूमिका निभानी ही होगी।

सुखदेव प्रसाद दुबे का यह तीसरा उपन्यास 'जय कारी' शक्तिस्वरूपा नारी का अभिनंदन है। वे इस उपन्यास में अपना उद्देश्य स्थापित करने में सफल है। इस उपन्यास में वे नारी के कोमलकांत, करुणामय रूप से लेकर अत्याचार निवारणी, दुष्टजन संहारिणी काली रूप तक की कथा सफलतापूर्वक कह पाये हैं। उनकी भाषा सहज, सरल एवं प्रभावशाली है। शैली में वर्णनात्मकता के साथ सहज प्रवाह है। अपनी पठनीयता के कारण 321 पेज का यह बृहद् उपन्यास पाठकों द्वारा सहज पढ़ा जा सकता है। कहीं– कहीं विचारों का परीक्षण, दार्शनिक आख्यान और स्थितियों का विवेचन जरूरत से ज्यादा विस्तार पाता गया है, इससे बचा जा सकता था। उपन्यास रोचक है। आज के संदर्भ में जरूरी हस्तक्षेप है। आशा है, हिन्दी जगत में इसका भरपूर स्वागत होगा।

जय कारी (उपन्यास), लेखक सुखदेव प्रसाद दुबे,
प्रकाशक इंदिरा पब्लिशिंग हाउस, इ–5/21
अरेरा कॉलोनी भोपाल–462016, मूल्य 495 रुपये।

आलेख

जन कवि नागार्जुन

डॉ. अमर सिंह बधान,
प्रोफेसर एमरिट्स, डी.लिट्.
सेक्टर 24 डी, चंडीगढ़,
मो. 9876301085

जिन साठोत्तरी कवियों में शोषित, पीड़ित एवं पददलित जनता की वेदना को साहस, शक्ति और तीव्र वेग के साथ अपनी कविता में वाणी दी है, उनमें नागार्जुन का नाम शीर्षस्थ है। नागार्जुन की पीड़ा शोषित वर्ग की पीड़ा है, उनके क्रांतिकारी विचार सामाजिक चेतना के स्वर हैं और उनका आक्रोश अन्याय के विरुद्ध है। वे सामान्य जन के बीच पैदा हुए, पल्लवित और विकसित हुए, उनके साथ स्वयं भी हुए तथा उनके संघर्ष में निडरता से कूद पड़े। उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सामान्य जन का क्रोध, हर्ष, दु:ख, सुख एवं जीवन का संघर्ष देखने को मिलता है। आश्चर्य नहीं कि नागार्जुन भारत की भूखी, दीनहीन, पीड़ित– शोषित और असहाय जनता से जुड़ते हैं और उनके लिए संघर्ष भी करते हैं। वे जनता की हार–जीत, आस्था–अनास्था एवं भ्रांति–संदेह सभी स्थितियों में उनके बीच उपस्थित हैं। इसीलिए उनके काव्य में सामान्य जन की सच्ची तस्वीर उभरकर सामने आती है। उनकी कविताएँ सर्वहारा के संघर्षों की बुलंद आवाज हैं।

यूँ तो श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, मुक्तिबोध और निराला के काव्य में सर्वहारा वर्ग के विरोध, विचार एवं संघर्ष के कई चित्र मिलते हैं। इन चित्रों को यदि गौर से देखा जाए तो श्रीकांत वर्मा सत्ताधारी वर्ग के शासक के पक्ष में, रघुवीर सहाय उस वर्ग के प्रतिपक्ष में मुक्तिबोध सुधारवादी आंदोलन में और निराला पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध में खड़े नजर आते हैं। नागार्जुन ही ऐसे अकेले कवि हैं जिनकी चेतना सामान्य जनता की विराट देह से जुड़ी है। अंतर–बाह्य की अटूट संधि से निर्मित उनकी कविता आम जनों को संबोधित है, जिसमें विश्व व्यथा के बीज भी हैं और स्वगत शोक भी। जब–जब जन आंदोलन वेगमय हुए हैं, नागार्जुन की कविता की लय भी तब–तब तीव्र हुई है। सच तो यह है कि मुक्तिबोध के विशाल काव्यात्मक ढाँचे में जो काम अधूरा रह गया था, नागार्जुन ने उसमें स्पंदन एवं प्राण फूँके, खाली कैनवास में रंग भरे और बीहड़ में कोयल की कूक और चावलों की महक भरी। एक स्वस्थ अर्थ में उन्होंने कविता को सामान्य जन जीवन से ओतप्रोत करके एक आश्चर्यमयी कार्य किया।

नागार्जुन की जनवादी छवि सैनिक कवि का मानचित्र लिये अवतरित होती है। कवि का मानना है कि साधारण लोगों से अलग रहकर कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। सच्चा कलाकार वह है, जो पक्षधर की भूमिका को धारण करता है। समाज का निर्माण तभी संभव है, जब रचनाकार जनवाहिनी से संपृक्त होकर रचना करे। ताज्जुब नहीं कि नागार्जुन की जनता संगठित होती है, इन्कलाब नारे लगाती है, जुलूस में सम्मिलित होती है, पुलिस की लाठी गोली का सामना करती है और हमलावर होकर जेल की यात्रा भी करती है। जन कवि नागार्जुन इन सब स्थितियों से उत्साहपूर्वक जनता के बीच और जनता के साथ होते हैं। कवि बहुजन समाज की प्रगति और विकास के लिए प्रतिबद्ध है। उनकी यही विशाल मानवतावादी दृष्टि उनके जनवादी कवि होने की महत्वपूर्ण एवं सशक्त कड़ी है। कवि के असंतोष, विद्रोह और आक्रामकता का मूल उद्देश्य पीड़ित मानवता में जन चेतना पैदा करके उसे परिवर्तन की दिशा की ओर उन्मुख करना है। वे जन साधारण को शोषण–तंत्र के हथकंडों के विरुद्ध उत्साहित करते हैं। कवि ने खुले तीर पर जन–संघर्ष में स्वयं सक्रिय भूमिका निभाने की अपनी प्रतिबद्धता की घोषणा की है–

''प्रतिबद्ध हूँ, सम्बद्ध हूँ, आबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ...
अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया–धसान' के खिलाफ....
अंध बधिर व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिए।'' 1

नागार्जुन कविता लिखते समय साधारण लोगों को अपने सामने रखते हैं और अनुभूतियों तथा अनुभवों के लिए इन्हीं लोगों के बीच इनका अटूट हिस्सा बनकर रहते हैं। वे साहित्य में जीते नहीं, लेकिन साहित्य की रचना करते हैं। और इसको जीवित रखने के लिए संघर्षरत रहते हैं। उनकी कविताएँ इस बात का प्रमाण है कि जनता के साथ जीवित रहनेवाला कलाकार ही साहित्य में जीवित रहने का हकदार बनता है। उन्होंने बड़ी सूझ–बूझ के साथ अपने सृजन की दिशा तय की। इसीलिए उनकी कविताओं में विवेक अत्यन्त गंभीर और गहरा है। आश्चर्य नहीं कि नागार्जुन ने निराला के युग–प्रवर्तक रूप को पहचान कर ही उनसे अपना संबंध बहुत दृढ़ता और स्नेह के साथ जोड़ा। उनकी कविताएँ इस अकाट्य तथ्य को भी प्रमाणित करती है कि देश और काल के जितने व्यापक परिदृश्य में जनता से संबंध जुड़ता है, कवि की संवेदनात्मक गहराई उतनी ही अधिक होती है। अपने ढंग से अपने समय की चुनौतियों को स्वीकार करके कवि ने सीधे व्यवस्था का विरोध किया और अन्याय, शोषण व विषमता के लिए भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और अफसरशाहों पर पैनी टिप्पणी की। इसीलिए उनकी कविताओं में अन्याय, दमन, शोषण और गैर–बराबरी का संवेदनात्मक उत्स मौजूद है।

असहनीय शोषित व्यवस्था में कवि अशांत है। देश में आर्थिक शोषण से त्रस्त, दु:खी लाखों–करोड़ों किसानों–श्रमिकों के दयनीय रूप ने कवि को पीड़ा से भर दिया है। इस पीड़ित जन–सामान्य की जिंदगी के बारे में उन्होंने लिखा और उनके एक साथ एकाकार भी किया–

''कैसे लिखूँ मैं शांति पर कविता
अमन चैन को कैसे कड़ियों में बाँध
मैं दरिद्र हूँ हृष्ट–पुष्ट की
यह दरिद्रता कटहल के छिलके जैसी खुरदरी,
जीभ से मेरा लहू चाटती आई
मुझ जैसे तो लाख–लाख हैं कोटि–कोटि हैं
यों तो सबका यही हाल है
सभी सरों पर यही बाल है
सभी दु:खी हैं
दो प्रतिशत भी नहीं सुखी हैं।'' 2

नागार्जुन की कविताएँ उपेक्षित जनों के साथ भावात्मक संबंध भी जोड़ती है। जनता की दु:खभरी आवाज और उसका करुण–क्रंदन कवि को उनके बीच उपस्थित होने को विवश करता है। उन्हें इस बात का गहरा दु:ख है कि शोषित मानवता पूँजीपति एवं शासन व्यवस्था के बीच दबकर दम तोड़ रही है। इस संवेदनशील बिन्दु पर जन कवि नागार्जुन की आत्मीयता जाति, धर्म और सम्प्रदाय की दीवारों को लाँघती हुई सर्वहारा के साथ जुड़ती है। यह जनता जहाँ भी अपनी आजादी के लिए, अपने हक के लिए लड़ती है तथा अपने शोषण के खिलाफ बगावत करती है, नागार्जुन वहाँ मौजूद होते हैं। कवि ने निम्न वर्ग एवं निम्नमध्य वर्ग की समस्याओं से आत्मसात कर

संवेदना के स्तर पर उन्हें बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। उनकी कविताएँ जिस जनता को संबोधित एवं समर्पित है, वह देश का बहुसंख्यक अशिक्षित और पिछड़ा हुआ समाज है, जो मध्य वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक फैला हुआ है। कवि की दृष्टि अध्यापकों की दयनीय स्थिति पर भी पड़ी है। वे देखते हैं कि आर्थिक अभाव, पारिवारिक चिंता, सामाजिक प्रतिष्ठा का अभाव एवं व्यावसायिक आदर्शों के बीच फँसा अध्यापक व्यथा और घुटन का शिकार होता है। उसमें एक स्थायी असंतोष भर आता है और जीवन की समस्त आस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं। उत्साह, कार्य प्रवणता और ध्येयवादिता के स्थान पर निरुत्साह, अकर्मण्यता और जड़ता आ जाती है–

''उमर है लगभग पचपन साल की
पेशे से प्राइमरी स्कूल का मास्टर था
तनखा थी तीस, सो भी नहीं मिली
मुश्किल से काटे हैं
एक नहीं दो नहीं, नौ नौ महीने
घरनी थी, माँ थी, बच्चे थे चार।''3

भ्रष्ट पूँजीवादी व्यवस्था संबंधी नागार्जुन की आलोचनाओं और उनके विरोधों से सत्य की आँच है। वे भलीभाँति समझते हैं कि जनता को बौद्धिक जड़ता से निकालने, राजनीति का वास्तविक स्वरूप समझने तथा संघर्ष में उतरने के लिए जनता के साथ सहानुभूति और हिस्सेदारी की जरूरत है। एक सच्चे एवं प्रतिबद्ध कवि के रूप में वे अत्याचार देखकर तिलमिलाते हैं, उसके प्रतिकार के लिए जनता को जागरुक और संगठित करने के लिए बेचैन होते हैं। इसीलिए वे जातीय परंपरा और संघर्षशील जनता के कवि हैं। कवि को इस बात का दु:ख है कि निर्धनवर्ग के जीवन में कभी भी खुशहाली की लहर दिखाई नहीं देती। वे इस विवश जीवन की नारकीयता, अमानवीयता और शोषण से मुक्ति पाना चाहते हैं, लेकिन यह आशा उनके लिए एक स्वप्न बनकर रह जाती है। कवि इस बात पर भी चिंतित है कि महँगाई और बेकारी के कारण वर्ग–भेद फासला बढ़ता ही जा रहा है–

'हम महँगाई के मारे हुए लोग
हम गैर–बराबरी के सताए हुए लोग
हम सनातन, भाग्यवाद और काहिल लोग।''4

नागार्जुन ने श्रमिक जनता की आधारभूमि से समाज के प्रत्येक वर्ग और उनकी प्रत्येक समस्या पर दृष्टिपात किया है। उनकी सहानुभूति निम्न वर्ग से है, तो उनकी चेतना का आधार श्रमिक वर्ग है। किसानों की दयनीय एवं कारुणिक स्थिति को देखकर वे द्रवित होते हैं। उनकी आह स्वयं कवि की आह बन जाती है। इसलिए वह कविता को वर्ग–संघर्ष में हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। यह कैसी विडंबना है कि स्वतंत्रता के पश्चात् किसान आज भी झोंपड़ियों में रह रहा है।

''दस झोपड़ियाँ, दो मकान हैं, इनकी आभा दमक रही है
इनका चूना चमक रहा है, इनके मालिक वे किसान हैं
जिनके लड़के मैदानों में, युग की डाँट–डपट सहते हैं।''5

जाहिर है कि वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास में परिणामस्वरूप ग्रामीण उद्योग धंधे ठप्प हो गये, किसान भूमिहीन हो गये और उन्हें शहर में आकर मजदूर बनना पड़ा। गाँव में विपन्न होकर भी वह अपने श्रम से उपजाए अन्न में ममत्व देखता था, लेकिन शहर में वह एक निर्जीव उपकरण बन गया। उसे मजबूरन दमघोटू कोठरी में रहना पड़ता है, जहाँ दरवाजे और खिड़की नहीं होती–

''चुरते रहते हैं ढाई सौ प्राण सत्रह कोठरियों में...
हैजा भी नहीं होता है
काली माई को दया भी नहीं आती है
एक बम्बा है, तीन लैट्रिन
देखकर पानी का मोर्चा
पसीने के आती है शर्म
ऊपर देखते ही खाली बाल्टियों का ढेर।''6

निस्संदेह नागार्जुन की कविता एक प्रतिबद्ध कवि की कविता है। वह अपने अनुभव को सामयिक बोध के संदर्भ में ईमानदारी से अभिव्यक्त करते हैं और वर्तमान जिंदगी की कुरूपताओं पर चोट करते हैं। उन्हें मालूम है कि गाँव से पलायन कर शहर में आए मजदूर पूँजीपतियों की मनमानियों का शिकार होते हैं। आर्थिक तंगी के कारण उन्हें उच्च वर्ग की अधीनता भी स्वीकार करनी पड़ती है। नजीजतन जीवन में दु:ख, दैन्य, दारिद्र्य, अभाव और घुटन छा जाती है। शहर में आकर वे मजदूर, कुली, रिक्शेवाले, घर में नौकर या चौकीदार तक बन जाते हैं। कवि ने श्रमिकों की इन शोषणमयी स्थितियों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है–

''कुली–मजदूर हैं
बोझा–ढोते हैं, खींचते हैं ठेला
धूल–धुआँ–भाप से पड़ता है साबका
थके–माँदे जहाँ–तहाँ हो जाते हैं ढेर।''7

कवि इस सच्चाई से भी वाकिफ है कि देश के महानगरों में सर्वहारा वर्ग का एक अन्य असहाय वर्ग 'भिक्षुक वर्ग' बड़ी तेजी से फैल रहा है। कारण यह है कि जिन्हें व्यवसाय नहीं मिल पाता, वे आखिरकार दूसरों की दया पर जीने को विवश हो जाते हैं। समाज भीख माँगनेवाले की ओर नफरत से देखता है, क्योंकि समाज की दृष्टि में कामचोर आदमी श्रमहीन जीवन बिताने के उद्देश्य से भीख माँगता है। भिखारियों के पेट भरने के लिए भीख माँगना एक पेशा बना लिया है। कवि नागार्जुन ने भिक्षुक की इस अवस्था को बड़ी नजदीकी से देखा–परखा है–

'' 1 0 5 साल की उम्र होगी उसकी
जाने किस दुर्घटना में, आधी–आधी कटी थीं बाहें
झुर्रियों भरा गंदगी सूरत का चेहरा, धँसी–धँसी आँखें
वो पीठ के सहारे लेटी है
सामने अलमुनियम का भिक्षापात्र है
नए सिक्कों और इकटकही–छुटकही नए नोटों से
करीब–करीब आधा भर चुका है वो पात्र।''8

उपेक्षित और कमजोर तबकों के प्रति वास्तविक सहानुभूति की खोज और इन सबमें अपनी वर्गीय स्थिति का आत्मबोध नागार्जुन की कविता की मुख्य विषय–वस्तु है। उनकी कविता में मनुष्य और मनुष्य के बीच उन जीवंत रिश्तों की खोज है, जिन्हें शोषक व्यवस्था लगातार विरूपित करती चली आ रही है। घर में निम्नवर्गीय नारी की दयनीय स्थिति की ओर कवि का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट हुआ है। उन्होंने स्त्री को परिवार के भीतर रखकर देखना शुरू किया, क्योंकि स्त्री की पहचान के लिए परिवार से बड़ा कैनवास नहीं हो सकता। घर और परिवार का यह पुनर्जन्म नागार्जुन के काव्य के वस्तु जगत की एक अद्वितीय विशिष्टता है। उनके हाथों कविता एक बार फिर ऐन्द्रिक जरूरतों और अनुभव योग्य आलंबनों की ओर लौटती है–

''फटी दरी पर बैठा चिर रोगी बेटा
राशन के चावल कंकड़ बीन रही है पत्नी बेचारी
गर्भ भार से अलस शिथिल है अंग–अंग
मुँह पर उसकी मटमैली आभा।''9

इतिहास गवाह है कि निम्नवर्ग की नारी अपनी आर्थिक, पारिवारिक बंधनों तथा रूढ़ि–प्रथाओं से सदैव पीड़ित रही है। उसका जीवन–अतृप्ति एवं व्यथा का भंडार है। उसकी पीड़ा और शोषण के पीछे उसकी अशिक्षा, दारिद्र्य, रूढ़िबद्धता, अंधश्रद्धा एवं समाज बंधन प्रमुख कारण हैं। वर्गबद्ध समाज रचना में निर्धनों के समान नारी भी हमेशा शोषण का शिकार रही है। नागार्जुन ने नारी जीवन की शोषण प्रक्रिया को अपनी कविताओं में बड़ी सशक्तता से उभारा है। वह नारी के संघर्ष और उसकी यातना का इतिहास बयान करते हुए पाठक को संघर्ष के बृहतर संदर्भों की ओर ले जाते हैं। वे उपेक्षित नारी की यातना के सवाल को निर्भीकता से उठाकर उसे एक सार्थक और बहुआयामी धरातल प्रदान करते हैं। उसकी कविताओं में चित्रित नारी आर्थिक अभाव से ग्रसित जीवन के प्रति अनास्था और कुढ़न रखती है। घर, पति और बच्चों के लिए वह जीवन–भर बँधी रहती है और उसके अपने सपनों का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

एक प्रगतिशील रचनाकार के रूप में नागार्जुन की शक्ति का प्रमुख स्रोत है भारतीय जनता के साथ, उसे पीड़ित–दलित अंश के साथ उनकी गहरी आत्मीयता तथा उनका वास्तविक तादात्म्य। ''वे अपने वास्तविक जीवन क्रम में दलित जन के ही अंग हैं।''10 उनकी इतनी सच कविताएँ हैं कि उन्हें आम आदमी का पक्षधर एवं जनवादी कहने में कतई संकोच नहीं है। इस संदर्भ में विष्णु खरे का कथन भी खरा है–'' 1847 के बाद के भारत को यदि कविता में किसी ने पूरी तरह और ईमानदारी से प्रतिबिम्बित किया है, तो वह नागार्जुन ही है। स्वातंत्र्योतर भारतीय जनता के संघर्ष का बहुत सारा इतिहास नागार्जुन की कविताओं के आधार पर लिखा जा सकता था।''11 इसी वजह से कवि नागार्जुन सर्वहारा जीवन के प्रत्येक पक्ष को पूरी पारदर्शिता से उद्घाटित कर पाए हैं–

''चंद पैसे, दो एक दुअन्नी–इकन्नी
कानपुर, बम्बई की अपनी कमाई में से
डाल गये हैं श्रद्धालु गंगा मइया के नाम...
नीचे प्रवहमान उथली–छिछली धार में
फुर्ती से खोज रहे हैं पैसे
मल्लाहों के नंग–धडंग छोकरे।''12

नागार्जुन पूँजीपतियों की नीयत से पूरी तरह परिचित थे। इनके द्वारा जनता पर किये गये शोषण एवं विषमता को कवि ने बड़े सीधे और स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इसीलिए उनकी कविता पूँजीवादी व्यवस्था और राजनीति को चुनौती देनेवाली कविता है, मनुष्य को विभाजित करनेवाली व्यवस्था पर सीधे दबाव डालनेवाली कविता है और ''सामंती संस्कारों के दंश की खिल्ली उड़ानेवाली कविता है।''13 कवि की दृष्टि में जमाखोर वर्ग समाज का सबसे बड़ा शत्रु है। इस वर्ग ने व्यवस्था से गठबंधन किया हुआ है। जनता चाहे भूखी मरती रहे, परन्तु ये कभी भी गोदामों का ताला नहीं खोलते। ये लोग गोदामों में बंद अनाज को मुँह माँगे दामों पर बेचते हैं। कवि के लिए लोकतांत्रिक चुनाव प्रणाली एक दिखावा और छलावा है। चुनाव से पूर्व नेतागण सर्वहारा वर्ग का वोट प्राप्त करने के लिए प्रलोभन और आश्वासन देते हैं और उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए खुशामद भी करते हैं–

''अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, सिद्धि चाहिए
वेतन में कुछ वृद्धि चाहिए, ऋद्धि चाहिए, सिद्धि चाहिए
औषध और मकान चाहिए, ज्ञान और विचार चाहिए
अगले पाँच साल के अंदर, भाई मेरे सब कुछ होगा।''14

देश में फैली विकृतियों, नेताओं की कथनी और करनी में अंतर, निर्धनों का और निर्धन होना तथा धनवानों का अधिक धनी हो जाना आदि ऐसी बातें हैं, जिनका कवि ने अत्यन्त समीप और खुली आँखों से साक्षात्कार किया। कवि का दर्द यह है कि जनता जहाँ थी, वहीं रही और उसकी पीड़ाओं एवं दरिद्रता में वृद्धि ही हुई। सत्ता और विपक्ष की स्थितियों, उनके इरादों और निशानों के मर्मज्ञ ज्ञाता हैं नागार्जुन। तभी तो वे जनता के शोषण का सही एवं विश्वसनीय चित्र खींच सके–

''जैसे भी टिकट मिला जहाँ भी टिकट मिला
शासन के घोड़े पर वो ही सवार है
उसी की छब्बीस जनवरी, उसी का पंद्रह अगस्त है
बाकी सब दु:खी है, बाकी सब पस्त है
महल आबाद हैं, झोपड़ी उजाड़ है।''15

इसमें कोई शक नहीं कि नागार्जुन यदि सत्ता को अपना पहला निशाना बनाते हैं तो इसे जनता के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ही कहा जा सकता है। वे जनता की समस्याओं से जुड़कर अपने कवि होने को सार्थक करते हैं। इस तरह उनकी कविता व्यक्ति विशेष की कविता न होकर देश की करोड़ों मेहनतकश जनता की कविता है और संघर्षशील शोषित जनता का एक हिस्सा है। उनकी कविता व्यक्ति विशेष की कविता न होकर देश की करोड़ों मेहनतकश जनता की कविता है और संघर्षशील जनता का एक हिस्सा है। उनकी कविता राजनीतिक सत्ता के शोषण से मुक्त करने के लिए जनता में संघर्ष चेतना जागृत करती है। स्पष्ट है कवि जन साधारण की मुक्ति का तीव्र आकांक्षी है। उनकी कविताएँ अंतर्विरोधों से लड़ती हैं, उन्हें चीरती हैं और दु:खों के उत्तरदायी तत्त्वों को गहरे में रेखांकित करती है। नागार्जुन की कविताओं की राह से गुजरने पर यह सच्चाई भी सामने आती है कि उन्होंने अपनी कलम न तो सत्ता के पक्ष में उठाई और न ही सत्ता पक्ष के किसी लालच या आकर्षण में वे बँधे। कवि का विश्वास है कि पूँजीपति वर्ग की ऐतिहासिक अवस्था एक दिन समाप्त होगी और इसकी वजह सर्वहारा वर्ग के इतिहास की शुरुआत होगी, जिसमें एक अधिक उन्नत सामाजिक व्यवस्था कायम होगी।

सारत: विवरण समृद्ध भाषा और शिल्प में बहुआयामी, दु:खी एवं पीड़ित सामान्य जन की जिजीविषा तथा बुर्जुआ वर्ग को सर्वहारा वर्ग की ललकार से ओतप्रोत नागार्जुन के काव्य एलबम का ईमानदारी से मूल्यांकन–विश्लेषण किया जाना चाहिए। इस दिशा में जो कुछेक प्रयास किये गये हैं, वे सराहनीय हैं, पर अपर्याप्त हैं। हिन्दी आलोचना में गुटबंदी और व्यावसायिकता ने नागार्जुन काव्य को उपेक्षित ही रखा है। जबकि इन्द्रिय बोध, भाव और विचार–इन तीनों आयामों पर नागार्जुन की कविता अपने समय की सबसे सार्थक कविता है। जन–पक्षधरता का, जन की शक्ति और संभावनाओं का और जनता के खिलाफ साजिश कर रही ताकतों का होना इतना सक्षम, सच्चा आत्मीय और साहसी चितेरा समकालीन काव्य परिदृश्य में दूसरा रचनाकार ढूँढ़ने पर शायद ही मिले। इतना ही नहीं, तुलसीदास के बाद नागार्जुन एकमात्र ऐसा काव्यकार है, जिनकी कविताओं की पहुँच आज भी किसानों–मजदूरों की चौपाल से लेकर सुदूर कंदराओं एवं कविता प्रेमियों–रसिकों की गोष्ठियों तक है। असल में, आजादी के बाद भारत का सच्चा इतिहास उसकी कविताओं में झिलमिलाता है।

संदर्भ–

1. नागार्जुन, 'प्रतिबद्ध हूँ' (काव्य संग्रह : खिचड़ी विल्पव देखा हमने), संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1981, पृ. 92–93
2. नागार्जुन, 'जयति जयति सर्वमंगल' (काव्य संग्रह : तालाब की मछलियाँ), अनामिका प्रकाशन, पटना, 1975, पृ. 157
3. वही, 'प्रेत का बयान' (काव्य संग्रह : तालाब की मछलियाँ), अनामिका प्रकाशन, पटना, 1975, पृ. 145

4.वही, 'शान्ति मैत्री' (काव्य संग्रह : आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986, पृ.50
5. वही, 'मैंने देखा' (काव्य संग्रह : आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986, पृ.38
6.वही, 'आदमी का तबेला' (काव्य संग्रह : प्यासी पथराई आँखें), यात्री प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ.18
7.वही, 'धिन तो नहीं आती है', पृ.29
8.वही, 'अहिंसा' (काव्य संग्रह : खिचड़ी विल्पव देखा हमने), संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1981, पृ.32
9.वही, 'जयति जयति सर्वमंगल' (काव्य संग्रह : तालाब की मछलियाँ), अनामिका प्रकाशन, पटना, 1975, पृ.150
10. रणजीत, 'प्रगतिशील और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता', साहित्य निकेतन, कानपुर, 1990, पृ.105
11. विष्णु खरे, 'आलोचना की पहली किताब', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1980, पृ.81
12. नागार्जुन, 'देखना ओ गंगा मैया' (काव्य संग्रह : तालाब की मछलियाँ), अनामिका प्रकाशन, पटना, 1975, पृ.78
13.डॉ.परमानंद श्रीवास्तव, 'समकालीन कविता का यथार्थ', हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1988, पृ.28
14. नागार्जुन 'जयति जयति जय सर्वमंगला' (काव्य संग्रह : तालाब की मछलियाँ), अनामिका प्रकाशन, पटना, 1975, पृ.161
15. वही, '26 जनवरी, 15 अगस्त' (काव्य संग्रह : तुमने कहा था), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986, पृ.38

व्यंग्य

दास्तान–ए सर्टिफिकेट

मदन गुप्ता सपाटू
458, सेक्टर 10, पंचकुला
हरियाणा मो.–9815619620

जब हमारे पधारे जगत में...पिताजी भागे, बर्थ सर्टिफिकेट की जुगत में तो पहले नर्सों ने लूटा, फिर बाबुओं ने...तब जाकर हमें प्रमाणपत्र मिला कि हमने फलाँ–फलाँ तारीख को फलां जगह अवतार लिया है। बंदा 115 साल का भी हो जाए तो भी बर्थ सर्टिफिकेट गले में लटकाए–लटकाए घूमना पड़ता है।

जैसे ही नवंबर का महीना चढ़ता है, सरकारी विभाग में मैसेज पर मैसेज डालने लग जाते हैं कि आप दफ्तर आकर प्रूव करो कि आप जहाँ में कायम हैं। बंदा जितना मर्जी जिन्दादिल हो, उसे एक बार संबंधित आफिस में जाकर बताना ही पड़ता है कि सचमुच जिंदा हूँ। सरकारी आदेशों के आगे नतमस्तक होकर बाबू के सामने लिखकर देना पड़ता है कि हजूरेआला मैं 90 साल का जवान आपकी अदालत में ब–होशो–हावास हाजिर हूँ...बेशक छूकर देख लो और यह सत्यापित करता हूँ कि मैंने पिछले एक साल से किसी जवान या बुढ़िया से शादी या निकाह नहीं किया है। गत वर्ष में न कोई नौकरी ही की है।

बाबू राम लाल एक बार हाथ में छड़ी पकड़े अपने पेरेंट आफिस में पेंशन न मिलने की शिकायत करने पहुँचे तो वहाँ के बाबू ने रिकार्ड देखकर बोला–हमारे रिकार्ड के मुताबिक आप पिछले साल अकाल चलाना कर चुके हैं, डिपार्टमेंट पेंशन क्यों और किसे दे? रामलाल गिड़गिड़ाए–''भाईजान! मैं पिछले साल नवंबर में बाकायदा लाइफ सर्टिफिकेट देकर गया था और अब भी देने को तैयार हूँ।'' बाबू बिगड़ गया–''आप सही हैं या सरकारी रिकार्ड? अब तो मैजिस्ट्रेट ही सर्टिफिकेट ईशु करेगा कि आप जिंदा हैं। हम कुछ नहीं कर सकते।''

हालाँकि हमारे देश में आज भी कितने ही स्वर्गीय अपने– अपने बैंक खातों में पेंशन और सरकारी सुविधाओं का लाभ उठा रहे हैं।

सरकारी तंत्र बंदे को जन्म से मरण तक सर्टिफिकेट में उलझाए रखता है। स्कूल में बर्थ सर्टिफिकेट, स्कूल छोड़ने का सर्टिफिकेट, हर परीक्षा पास करने का, फिर नौकरी में कैरेक्टर सर्टिफिकेट, ताकि इस बात की गारंटी रहे कि आप कार्यालय में किसी महिला कर्मी की ओर आँख उठाकर नहीं देखेंगे। अब सबको अपने–अपने चरित्र का पता ही होता है, परन्तु जब कोई सरकारी विभाग आपको अपनी मोहर लगाकर अटेस्ट करके कैरेक्टर सर्टिफिकेट दे देता है तो बैड कैरेक्टर भी गुड कैरेक्टर बन जाता है। कहीं नो आब्जेक्शन सर्टिफिकेट तो कहीं फला सर्टिफिकेट।

एक आंकड़े के मुताबिक भारत सरकार 509 किस्म के सर्टिफिकेट जारी करती है। बस कुछ के नाम बदल गये हैं–आधार कार्ड, पासपोर्ट, ड्राइविंग लाइसेंस, वोटर कार्ड, सिटिजन कार्ड, इंडियन ओरिजन कार्ड, पैन कार्ड वगैरा–वगैरा। घर का एक सर्टिफिकेट की फाइल दिन व दिन मोटी होती जा रही है।

कोरोना काल में तो दो डोज खुराक का सर्टिफिकेट लेने के लिए घंटों लाइन में लगे, धूप में सड़े, गेटकीपरों सें लड़े, अनाड़ी नर्सों के पल्ले पड़, वैक्सीन की जगह, फोके पानी के इंजेक्शन सहे, डॉक्टरों पर चढ़े, पुलिस से भिड़े...तब जाकर प्रूव कर सके कि अब हम कोरोना प्रूफ हैं। अपने ही विभाग में नारा बदल गया–दो गज की दूरी सर्टिफिकेट है जरूरी।

नये वेरिंएट के कारण अब तो गले में ही हम दो डोज का सर्टिफिकेट टांगे–टांगे घूम रहे हैं। दुकानदार तक सौदा देने के पहले पूछ रहा है–दोनों वैक्सीन लगवा रखी है न? नहीं तो हमें भी लपेटे में ले लो।' बस, रेल, जहाज, पिक्चर हॉल, मॉल...जहाँ दखें, हाल बेहाल है। हाथ में मोबाइल पकड़े, उसमें आरोक्य सेतु घुसेड़े हम हर जगह अपनी चैकिंग करवाते, मास्क में मुँह छिपाये– छिपाये घूम रहे हैं। यहाँ तक कि आरटीपीसीआर रिपोर्ट भी हथेली पर लिये घूम रहे हैं। न जाने कहाँ चेकिंग हो जाए? पिक्चर हॉल में गेटकीपर से मनुहार कर हैं–''भैया, बहुत दिनों बाद पिक्चर देखने आये हैं....अंदर जाने दो....ये देखो टिकट के साथ–साथ सारे डाक्यूमेंट्स भी लाये हैं।

कई लोग बड़े दूरदर्शी होते हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास होता है कि उनके साहबजादे जीतेजी तो कुछ कर नहीं रहे, मरने के बाद क्या करेंगे! सो तो धार्मिक आस्था के अनुसार वे किसी भी तीर्थस्थल पर जाकर एडवांस में ही अपना क्रियाकर्म और श्राद्ध तक निपटा लेते हैं। उन्हें भारतीय व्यवस्था पर पूर्ण भरोसा है कि ऑन लाइन प्रक्रिया के बावजूद कोई सर्टिफिकेट आसानी से मिल पाएगा? उन्हें पुरानी कहावत पर आज भी विश्वास है कि तोप का लाइसेंट अप्लाई करो, तो बंदूक का मिलेगा। दादा मुकदमा दायर करेगा, तो परपोते को न्याय मिलेगा। सरकारी दफ्तरों की सूरते हाल देखकर उन्होंने एडवांस में ही डेथ सर्टिफिकेट एप्लाई कर दिया है।

आलेख

स्वाधीनता संग्राम में साप्ताहिक पत्र का संघर्ष

डॉ0 अवधेश कुमार चन्सौलिया
प्रा0 हिन्दी, डी.एम. 242
ग्वालियर (म.प्र.)
09425187203

ब्रिटिश शासन में पत्रकारिता का कार्य तलवार की धार पर चलने जैसा था। भारत में जैसे ही पत्रकारिता शुरू हुई, वैसे ही प्रेस अधिनियम भी बनने लगे। प्रेस कानून को निर्मित करने में गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली की प्रमुख भूमिका रही। उन्होंने 13 मई, 1799 ई. में प्रेस अधिनियम को पारित किया। इस अधिनियम के अनुसार प्रकाशन के पूर्व समाचार का अनुमोदन सरकारी सचिव से कराना पड़ता था, इस स्थिति में अखबार निकालना कितना कठिन था।ऐसी विषम परिस्थितियों में भी जब पत्र–पत्रिकाओं ने जनवाणी को मुखरित किया तो उनको और अधिक बड़े कानूनों के शिकंजे में कसा जाने लगा।सन् 1823 में कार्यवाहक गवर्नर जनरल ने यह अधिनियम पारित किया कि सरकारी स्वीकृति के बिना कोई भी समाचार–पत्र,पत्रिका, पुस्तक, विज्ञप्ति या पम्पलेट प्रकाशित नहीं किया जा सकता था। सरकारी मुख्य सचिव से इन सभी को प्रकाशन का लाइसेंस प्राप्त करना होता था और प्रकाशक का पूरा पता देना अनिवार्य था, कानून का उल्लंघन करने पर कड़ी सजा और जुर्माने का प्रावधान था। ऐसी स्थिति में सरकार के खिलाफ लिखना मुश्किल होता था। यदि कोई समाचार–पत्र या पत्रिका ऐसा करती तो प्रेस जब्त कर उसपर ताला डाल दिया जाता था और प्रकाशक एवं संपादक को सश्रम कारावास के साथ ही भारी जुर्माना भी भरना होता था। जुर्माना न भरने पर पुनः सजा होती थी। इन विपरीत परिस्थितियों में भी लोग पत्रकारिता को मिशन के रूप में निरंतर आगे बढ़ा रहे थे। लोग जेल भी जा रहे थे, जुर्माना भी भर रहे थे, फिर भी देश की खातिर पत्रकारिता नहीं छोड़ रहे थे।

स्वाधीनता आंदोलन को अग्रगामी बनाने में तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। सन् 1857 के विद्रोह में समाचार–पत्रों की अग्रणी भूमिका रही। फलस्वरूप 13 जून 1857 ई. में प्रिंटिंग प्रेस और उसके उपयोग मीडिया को लाइसेंस देने और रद्द करने का अधिकार अपने पास रखा। 9 मार्च, 1878 ई. के कानून के अनुसार सरकार द्वारा की गई कार्यवाही के विरुद्ध न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती थी।

भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि कलकत्ता में सर्वप्रथम हिन्दी अखबार 'उदंत मार्तण्ड' 30 मई, सन् 1826 को पं. युगल किशोर शुक्ल के संपादन में प्रकाशित हुआ और 4 दिसम्बर, 1827 ई. को सदैव के लिए अस्त हो गया। यह प्रति मंगलवार को प्रकाशित होता था। हिन्दी का प्रथम दैनिक समाचार–पत्र 'सुधावर्षण' श्यामसुंदर सेन के संपादकत्व में कलकत्ता से ही सन् 1854 में प्रकाशित हुआ। कलकत्ता से ही भारत मित्र (1878), सार सुधानिधि (1879) और उचित वक्ता (1880) प्रकाशित हुए। इन तीनों पत्रों के मुख्य संचालक थे पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। सन् 1885 में 'हिन्दोस्थान', 1890 में 'हिन्दी बंगवासी', 1896 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 1900 में 'सरस्वती' पत्रिका प्रकाश में आयी। यह अपने समय की युगांतकारी पत्रिका रही। इसमें साहित्य पुरातत्व, चरित्र चर्चा, विज्ञान, आलोचना, विवेचन और प्रकरण में सात शीर्षक होते थे। सरस्वती के उद्देश्य के संबंध में डॉ. गौड़ का कथन है कि सरस्वती का उद्देश्य हिन्दी भाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक जागरण करना था, राष्ट्रीय जागरण तो उसका अंग था।'2 ये पत्र–पत्रिकाएँ भारतीय जन–मानस को अशिक्षा, अंधविश्वास, स्त्री विमर्श, आर्थिक प्रगति, राजनैतिक चेतना आदि विषयों पर तार्किक चर्चा कर रही थी। साथ ही विदेशों की सभ्यता संस्कृति से भी लोगों को परिचित करा रही थी।

सन् 1907 में अभ्युदय, हिन्दकेसरी, स्वराज्य, नृसिंह, सन् 1910 में प्रताप, 1917 में विश्वमित्र, 6 अप्रैल 1919 को स्वदेश (गोरखपुर), कर्मवीर (1919), आज (1920), मतवाला (1923), हिन्दूपंच (1926) आदि पत्र–पत्रिकाएँ हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय रही। सरकार द्वारा कड़े कानून बनाने के बावजूद हिन्दी पत्र–पत्रिकाएँ सरकारी नीतियों का पुरजोर विरोध करती रहीं। इसके लिए उन्हें सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा। इनमें वर्तमान, अभ्युदय, प्रताप, शंखनाद, हलधर, सत्याग्रह समाचार, सुधा, सैनिक, नया हिन्दुस्तान, स्वदेश, चाँद, बलिदान, विप्लव, क्रांति, कल्याण, बुंदेलखंड, केसरी आदि अनेक पत्र–पत्रिकाएँ थीं, जो देश में राष्ट्रीय और राजनैतिक चेतना का प्रचार–प्रसार कर रही थी और अंग्रेजों की भारत विरोधी गतिविधियों की मुखर आलोचना कर रही थी। इन पत्र–पत्रिकाओं के विभिन्न अंग कभी–न–कभी प्रतिबंधित किये गये। इनके संपादकों एवं प्रकाशकों को जेल हुई और जुर्माने की राशि भी भरनी पड़ी।

स्वदेश जो 6 अप्रैल, 1919 को गोरखपुर से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक एवं प्रकाशक दशरथ प्रसाद द्विवेदी थे। यह स्वदेशी की भावना से ओतप्रोत साप्ताहिक पत्र था। प्रकाशन के समय से ही स्वदेश से 500/ की जमानत माँगी गयी थी।''3 यह समाचार सन् 1919 से 1937 तक गोरखपुर से प्रकाशित हुआ। इसका 'विजयांक' विशेषांक सरकार द्वारा प्रतिबंधित किया गया। यह पत्र साहित्यिक, सांस्कृति और राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। स्वदेश का ध्येय वाक्य जो उसके शीर्ष पर प्रकाशित होता था, वह था–

''जो भरा नहीं भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं
वह हृदय नहीं पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।''

गया प्रसाद 'सनेही' द्वारा सृजित ये पंक्तियाँ ही अंग्रेजों को उकसाने के लिए पर्याप्त थीं। इस पत्र में अपनी रचनाएँ भेजनेवालों में– मैथिलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', जयशंकर प्रसाद, राम अधार त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय, अयोध्या सिंह उपाध्याय, बेढब बनारसी, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', रामचरित उपाध्याय, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रूपनारायण पांडेय, त्रिशूल, मन्नन द्विवेदी आदि साहित्यकार प्रमुख थे। कहानीकार में प्रेमचंद, सीता राम वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' निबंधकारों में बाबूराव विष्णु पराड़कर, रामनाथ 'सुमन', कृष्णदत्त पालीवाल, गौरीशंकर मिश्र के नाम महत्वपूर्ण है। स्वदेश के संपादकीय आज भी प्रासंगिक है। इस पत्र का एक स्थायी स्तम्भ–'गोरखधंधा' प्रकाशित होता था, जिसमें हास्य–व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं पर चुटीले प्रहार किये जाते थे। इस पत्र में समसामयिक विषयों के साथ–साथ आध्यात्मिक आलेख भी नियमित रूप से प्रकाशित होते थे। इन लेखों में ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा, सूक्ष्म शरीर, कर्मफल, पुनर्जन्म, परलोक आदि से संबंधित विचार–विमर्श होते थे।

स्वदेश ने 'प्रवेशांक' में ही लिखित संपादकीय में अपना उद्देश्य और संकल्प प्रकट कर दिया था। यथा–''हम चाहते हैं कि संसार के अन्य स्वाधीन देशों के मनुष्यों की भाँति हिन्दुस्तानियों की गणना भी मनुष्यों में ही हो, इसलिए जो स्वत्व और स्वतंत्रता एक स्वाधीन राष्ट्र के व्यक्ति को प्राप्त है, उतनी ही

स्वतंत्रता हिन्दुस्तानियों को भी प्राप्त हो।''4

स्वदेश में प्रकाशित कविताएँ, कहानियाँ, संपादकीय एंव समालोचनाएँ आदि साहित्यिक सामग्री स्वदेशी भावनाओं, भारतीय संस्कारों और सांस्कृतिक उन्नयन हेतु प्रकाशित की जाती थी।

प्रताप, कर्मवीर, माधुरी, सुधा, सरस्वती, प्रभा, मर्यादा, अभ्युदय की तरह ही स्वदेश ने भी गांधीजी के सत्याग्रह आंदोलन को आगे बढ़ाया और 'रौलट एक्ट' का विरोध किया। तत्कालीन शासन की जन–विरोधी नीतियों की भर्त्सना की। 13 अप्रैल, 1919 के जालियाँवाला नरसंहार की भी अन्य प्रतिबंधित पत्र–पत्रिकाओं की तरह स्वदेश ने भी कटु आलोचना की। इस दृष्टि से 'कत्लेआम' शीर्षक से लिखा संपादकीय द्रष्टव्य है–

''वाहे रे
उनका कलेजा
कत्लेआम और वह ख्याल
कोई क्या कर लेगा मुझपर
करके दावा खून का।''5

''इसी अंक में रौलेट एक्ट के विरुद्ध आवाज उठाती हुई यह कविता भी महत्वपूर्ण है–

''रौलेट का तुमने कर दिया
कानून कैसे पाया
इंसाफ वाले हो के दिले आजाद हो गए
हैं हम यह हमारी वफ़ाओं का सिला
बेजुर्म आप कत्ल को तैयार हो गए।''6

जालियावाला हत्याकांड की देशभर में उग्र प्रतिक्रिया हुई। जगह–जगह अंग्रेजी शासकों के विरुद्ध आंदोलन हुए। अतः सन् 1919 में पंजाब में 'प्रेस–एक्ट' को कठोरतापूर्वक लागू किया गया। अन्य प्रांतों के समाचार पत्र पंजाब में आने से रोके गये। 13 मई सन् 1919 को स्वदेश के पंजाब–प्रवेश पर रोक लगा दी गई।''7 क्योंकि यह पत्र उग्रराष्ट्रीय विचारधारा का पत्र था। प्रतिक्रिया स्वरूप कवि राष्ट्रीय पथिक की कयामत आनेवाली शीर्षक कविता स्वदेश में प्रकाशित हुई।

''सितमगर! सोच ले दम भर, तेरी दरख्वास्त जाली है
महज ताबूते हैं, बेजान है, मुर्दार डाली है
नहीं है ये सुलह के दंग, नहीं कौमी तरक्की के
अरे टुक झाँक, नीचे तो तेरी बुनियाद खाली है
ये खूँ है बेगुनाहों का, दबाया नहीं जा सकता
हश्र तक वह पुकारेगा कि ये तजबीज काली है
सम्हल जा वक्त है अब भी, बदल यह चाल बेढंगी
तेरी रफ्तार पर बरपा, कयामत होनेवाली है।''8

इस कविता के प्रकाशन के कारण 13 जून सन् 1919 को इस साप्ताहिक पत्र के संपादक को सरकार ने चेतावनी दी एवं पुनः दूसरी चेतावनी 30 जून 1919 ई. को दी गई।

हिन्दी की अन्य प्रतिबंधित पत्रिकाओं की तरह ही स्वदेश में भी प्रगतिशील विचारों से संबंधित सांस्कृतिक अभिरुचियोंवाली साहित्यिक सामग्री प्रकाशित होती थी। सामाजिक समस्याओं में दहेज प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह, स्त्री समस्या, विधवा समस्या, पुनर्विवाह, गरीबी, महँगाई, बेरोजगारी आदि से संबंधित आलेख एवं कविताएँ प्रकाशित होती थीं और समसामयिक समस्याओं, मुद्दों तथा आजादी प्राप्ति की दिशा में या पुरजोर बहसें और वाद–विवाद आलेखों और निबंधों के माध्यम से की जाती थी। इन बहसों के माध्यम से अन्य पत्र–पत्रिकाओं की तरह स्वदेश ने भी समाज में व्याप्त कुरीतियों पर जबर्दस्त प्रहार किये। छुआछूत, तंत्रमंत्र और अंधविश्वासों पर भी चोट की। इससे भारतीय जनता में नवजाग्रति का संचार हुआ। 1 अक्टूबर 1924 ई. के स्वदेश में लक्ष्मीधर वाजपेययी का 'हिन्दू समाज की स्थिति' पर बहुत ही विचारोत्तेजक आलेख प्रकाशित हुआ। इस आलेख में हिन्दू समाज के पतन के कारणों को तार्किक ढंग से प्रस्तुतीकरण हुआ है। इसी अंक में छविनाथ पांडेय का स्त्री समस्या पर समाज के स्त्रियों का स्थान शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसमें स्त्रीशिक्षा पर जोर दिया गया है।

स्वदेश में आर्थिक समस्याओं, गरीबी, भारतीय उद्योग की अवनति, बेरोजगारी, टैक्स आदि पर भी चिंतनपरक लेख प्रकाशित होते थे। 7.10.1924 ई. को स्वदेश का विजयांक विशेषांक पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। इस अंक में ऐसी विद्रोही तथा क्रांतिकारी पाठ्य सामग्री थी कि वह तत्काल सरकार द्वारा जब्त किया गया।''9 आपत्तिजनक लेखों तथा कविताओं के प्रकाशन के अपराध में पंडित दशरथ प्रसाद द्विवेदी को भारतीय दंड विधान की धारा 124 अ के अंतर्गत दो वर्ष के कठोर कारावास और पचास रुपये अर्थदंड की सजा प्राप्त हुई। अर्थदंड न दे पाने की स्थिति में तीन माह का अतिरिक्त कारावास का दंड मिला।''10 पत्र के संपादन के अपराध में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को भी उपर्युक्त नौ माह के कारावास का दंड मिला।''11 स्वदेश के 10 अप्रैल 1921 के अग्रलेख में लिखा था कि ''स्वराज्य स्थापित होने पर ही हम अपने देश को स्वदेश कह सकेंगे और वही दिवस स्वदेश का सौभाग्य दिवस होगा। ईश्वर हमें पौरुष दे कि स्वदेश जिस कमिश्नरी अथवा जिस खंड से प्रकाशित हो रहा है, वहाँ की भरपूर सेवा करते हुए वह अपने प्रांत और देश के हर एक कोने तक में नये जीवन का संचार कर दे।''

इस तरह स्वदेश ने पराधीन देश के लोगों की धमकियों में वीरता तथा राष्ट्रप्रेम का सतत रूप से संचार किया। इसको पढ़कर लोग मातृभूमि की आजादी के लिए बलिदान देने हेतु तैयार होने लगे। क्रांतिकारियों के लेख भी स्वदेश में छपने लगे। परिणामस्वरूप इसकी जमानत की राशि में बढ़ोत्तरी की गई और सरकार ने इसपर कड़ी नज़र रखनी प्रारंभ कर दी।

स्वदेश के विजयादशमी विशेषांक में 50 पृष्ठ थे। इसकी आपत्तिजनक रचनाओं में त्रिदंडी की भावी क्रांति, रामचरित उपाध्याय की विजय, रामनाथ लाल 'सुमन' की 'विप्लव राग' ओर 'माँ' प्रमुख थी। त्रिदण्डी द्वारा लिखित आलेख हमारी दशा तुम्हारा स्वागत में भारतीयों की दयनीय स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। यथा–''आओ माँ! एक बार तुम फिर आओ। देखो, तुम्हारे भक्त कैसी दीनता, कैसी हीनता और कैसी विषमता की घड़ियाँ काटकर आज तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।''12 स्वदेश में तत्कालीन भारत के समाज की जीती–जागती तस्वीर प्राप्त हो जाती है। स्वदेश की प्रशंसा में प्रयाग से प्रकाशित होनेवाला स्टार पत्र ने लिखा कि ''गोरखपुर को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसके यहाँ से हिन्दी 'साप्ताहिक स्वदेश' का जन्म हुआ। राष्ट्रीय दृष्टि से पत्र उसके लिए सचमुच ही बहुमूल्य है, जिनके लिए इसकी आवश्यकता थी। हमारे सहयोगी का उत्साहयुक्त और जोरदार लेख लिखने का ढंग ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कानपुर के 'प्रताप' का। हमें उसका 'गोरखधंधा' बहुत ही पसंद है। हमारी मनोकामना है कि पत्र उपयोगी ढंग पर मुद्दतों बरकरार रहे।''13 इस पत्र में विज्ञापनों को प्रकाशित नहीं किया जाता था। घाटा सहकर भी इसे सन् 1937 तक निरंतर निकाला जाता रहा। स्वदेश के विजयांक में अनुप शर्मा की 'माँ' कविता की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं–

''वे नृशंस दर्शन से ही मर जाएँ बस आँखें मूँदें
अत्याचारी वधिक विदेशी छाती पर न अधिक कूदें
एक बार माँ! एक बार तू नाच काम बन जायेगा
ताण्डव की बस एक कला में रक्तपात्र भर जायेगा।''

इसी अंक में कृष्णदेव प्रसाद गौड़ के आलेख 'मजदूर दल और भारतवर्ष' में ब्रिटेन में मजदूर दल के सत्तारूढ़ होने पर प्रसन्नता व्यक्त की गई है। पाण्डेय बचेन शर्मा 'उग्र' का एकांकी 'लालक्रांति के पंजे में' प्रकाशित हुआ, जिसमें जारशाही के पतन पर विचार किया गया है। इसमें वे लिखते हैं कि ''कैसा शुभ संवाद है, अत्याचारी को उसके कुकर्मों का फल मिल गया। रावण का नाश हो गया। पूंजीवाद का समर्थक कुत्तों की मौत मार डाला गया। आज प्यारी मातृभूमि के मुख पर मुस्कुराहट दिखाई पड़ रही है। माँ इतने से ही संतोष कर लो। जार के ही खून से संसार के अंधों की आँखें खुल जायें और गरीबों को उनकी झोपड़ियाँ लौटा दें।''15 पंडित विश्वम्भर नाथ जिज्जा का पूंजीवाद के अंधकार में साम्यवाद का दिव्य प्रकाश''16 भी महत्वपूर्ण लेख हैं, जिसमें पूंजीवाद के दोषों की तार्किक विवेचना हुई है। स्वतंत्रता आंदोलन के समय समाज–सुधार एवं पुनर्जागरण में प्रतिबंधित साप्ताहिक स्वदेश की महत्वपूर्ण भूमिका रही। गोरखपुर के स्वदेश के पश्चात् 1948 ई. से नया स्वदेश इसी उद्देश्य के साथ लखनऊ से प्रकाशित हुआ और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा 1971 ई. से यह दैनिक स्वदेश के रूप में ग्वालियर से लगातार प्रकाशित होकर देश–प्रेम का भाव जाग्रत कर रहा है।

संदर्भ–

1. डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र– हिन्दी पत्रकारिता भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 118, सन् 1985
2. डॉ. सुशील जोशी–राजस्थान हिन्दी ग्रं. अकादमी जयपुर, पृ. 31, संस्करण 2006
3. डॉ. संतोष भदौरिया–अंग्रेजी राज और प्रतिबंधित हिन्दी पत्रिकाएँ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, म.प्र. शासन, भोपाल पृ. 48 सन् 2001 ई.
4. वही, पृ. 105
5. साप्ताहिक स्वदेश, 20 अप्रैल, 1919, संपादकीय
6. वही
7. होम पुलिस (ए) फाइल 2.5.1919 उ.प्र. अभिलेखागार, लखनऊ
8. साप्ताहिक स्वदेश 18 मई 1919
9. पुलिस डिपार्टमेंट नोटिफिकेशन नं. 762/8–411,192, 1925 यू.पी. गवर्नमेंट, होम पोलिटिकल फाइल 33/3/1925, भार. राष्ट्रीय अभिलेखागार, दिल्ली
10. पुलिस फाइल 411/1923, पृ. 34, उ.प्र. अभिलेखागार, लखनऊ
11. वही, पृ. 50
12. डॉ. संतोष कुमार भदौरिया, अंग्रेजी राज और प्रतिबंधित हिन्दी पत्रिकाएँ, पृ. 50, स्वराज संस्थान, भोपाल सन् 2001 ई.
13. साप्ताहिक स्वदेश, विजयांक, पृ. 45, 7.10.1924
14. वही, पृ. 32
15. वही, पृ. 34

ग़ज़लें

विज्ञानव्रत
नोएडा
मो.–9810224571

1.
क्यों छिपाना चाहता हूँ
जो दिखाना चाहता हूँ
है अयाँ कुछ भी नहीं तो
क्या छिपाना चाहता हूँ
पास मेरे जो नहीं है
वो दिखाना चाहता हूँ
काश खुद भी सीख पाता
जो सिखाना चाहता हूँ
याद मुझको जो नहीं है
वो भुलाना चाहता हूँ।

2.
मुझमें है घर–बार कई
जीता हूँ किरदार कई
क्या खुद में टिक पाया हूँ
कहने को आधार कई
मुझको बाँट सकेंगे क्या
है मेरे हक़दार कई
मुझको बेच न पाया वो
जिसके हैं बाज़ार कई
मैंने दुनिया देखी है
इसमें हैं संसार कई।

3.
जीवन का संबल भी हो
घातक एक गरल भी हो
एक पहेली टेढ़ी–सी
सीधे और सरल भी हो
तेज़ वक़्त की आँधी तुम
ठहरा–सा इक् पल भी हो
ख़ारा एक समुंदर भी
लेकिन गंगाजल भी हो
मेरा आज तुम्हीं से है
मेरा बीता कल भी हो।

4.
हम जिन्हें पहचान लेंगे
वो हमारी जान लेंगे
अब उन्हें जो ढूँढ़ना है
एक दुनिया छान लेंगे
वो मुझे तो ले चुके हैं
और क्या सामान लेंगे
मुश्किलों से डर गये जो
रास्ता आसान लेंगे
वो मुख़ालिफ़ ही सही
हम उन्हीं से ज्ञान लेंगे।

कविता

प्रिया देवांगन 'प्रियू'
राजिम, गरियाबंद, छतीसगढ़,
मो0–7697282458

आह्वान

जाग उठो हे वीर पुत्र तुम, अपनी ताकत को पहचानो
नस–नस भर लो नई उमंगें, लक्ष्य नेक अंतर्मन ठानो
शूल मिलेंगे तुम्हें डगर पर, धूल धूसरित पाँव तुम्हारे
रक्त बहे तो डर ना जाना, थम न जाना किसी किनारे

प्रण लो भारत की रक्षा का, नित सबल राष्ट्र निर्माण करो
तजकर अपनी गहरी निद्रा, कदम बढ़ाओ हथियार धरो
छुपकर बैठे छलिया सारे, चुन–चुन प्रहार वे करते हैं
घात लगाते गीदड़ जैसे, नोच–नोच कर दम भरते हैं

हे भारत के वीर सपूतो, कर दो इनकी वोटी–वोटी
करो धराशायी दुश्मन को, होती जिनकी नियत खोटी
शीश तुम्हारा कभी झुके ना, जीना दुश्वार नहीं होगा
एक–एक को धूल चटा दो, पीछे से वार नहीं होगा

आसमान जैसी चट्टानें, इर्द–गिर्द है गहरी खाई
साहस रख कर चलना वीरो, देख डरो ना ये कठिनाई
धन्य करो यह जन्म तुम्हारा, दे दो अपनी तुम कुर्बानी
याद रखेगी दुनिया सारी, नाम देश के करो जवानी।

आलेख

संताली लोकगीतों में संताल हूल (1855 ई.)

प्रो. डॉ. शर्मिला सोरेन
सहायक प्राध्यापक विश्वविद्यालय संताली विभाग
सिदो कान्हु मूर्मू विश्वविद्यालय, दुमका
मो.–7091789254

ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में पहला और महत्त्वपूर्ण संग्राम 'संताल हूल' को याद कर सकते हैं, जिन्हें संताल हूल 1855 के नाम से जानते हैं, जिसकी उद्घोषणा 30 जून, 1855 को सिदो–कान्हू, चांद–भायरो, फूलो–झानो के कुशल नेतृत्व में उस समय लड़ी गई, जब अंग्रेजी हुकूमत का सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था।

संताल आदिवासी की प्रवृत्ति अतुलनीय न्यायप्रिय और शांतिप्रिय रहा है। ये आदिवासी राष्ट्रप्रेम से ओत–प्रोत, जियो और जीने दो, वसुधैव कुटुम्बकम् में आस्था और विश्वास रखता है। ऐसे समय में अंग्रेजों के द्वारा उनके जीवन–यापन में खलल पैदा करने के कारण सिदो–कान्हू ने 'आबोवाक् दिसोम रे आबोवाक् राज' का नामा देकर 'करो या मरो' का मूलमंत्र जनमानस को देने का काम किया। सूदखोर महाजनों को, ठेकेदारों को और अंग्रजों के दलाल को यहाँ से भगाने के लिए इन्होंने यह आंदोलन किया था। इस आंदोलन को अपार जनसमर्थन मिला था। कार्ल मार्क्स ने भी अपनी किताब 'नोट्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री' में इस आंदोलन को 'जनक्रांति' माना है, लेकिन इतिहास ने इतनी बड़ी जनक्रांति को इतिहास के पन्नों में स्थान देना उचित नहीं समझा। फिर भी संताल आदिवासियों ने अपने लोकगीतों में, लोककथाओं में, किंवदन्तियों में अपने शहीदों की वीरगाथाओं को जीवित रखा है। उनमें से कुछ प्रचलित लोकगीतों का उल्लेख इस प्रकार है, जिसको ऐसे ही अवसरों पर, खास करके संताल समाज में आज भी जो बहुत लोकप्रिय है, अक्सर सुनने को मिलता है–

1.(सोहराय राड़)
भोगनाडीह आतो खोन
सिदो–कान्हू हूल...हूल किन हो....हो...
केदा!
दायना....दाय माराङ दाय
देला! से ना दायना आडोङ लेन में,
सिदो ठाकुर कान्हू भाई
हूल....हूल किन हो.....हो....हो....केदा।

अर्थ–भोगनाडीह गाँव से सिदो–कान्हू ने हूल–हूल का आगाज किया है। चलें दीदी...बड़ी दीदी आप भी निकलें बाहर! सिदो ठाकुर, कान्हू भाई ने हूल–हूल का आगाज किया है। इसी प्रकार से इस गीत को भी देखा जा सकता है–

2.(दोङ सेरेञ)
सिदो कान्हू दो हूल डारवाक् किन
डारवाक् लेदा...
आतो–आतो किन पासनाव लेदा
देला! से हो मांझी बाबा
देला! से हो आतो मोड़े होड़
साहेब सुबा सुद महाजोन बोन लगा कोवा।

अर्थ–सिदो–कान्हू ने हूल के लिए साल के पत्ता की डाली को गाँव–गाँव में भेजवाये थे। आइये! मांझी बाबा, आइये गाँव के मोड़े होड़, साहेब सुबा सूद महाजन को भगाना है।

प्रचलित लोकगीत में से यह भी एक प्रमुख गीत है, जो संताल समाज के सामाजिक कार्यक्रमों में प्रायः सुनने को मिलता है'

3.(दोङ सेरेञ)
सिदो–कान्हू खुड़...खुड़ी भितोरे
चाँद भायरो घोड़ा उपोरे...2
देखो से रे चाँद रे भायरो
घोड़ा भायरो मुलीने–मुलीन...2

इस लोकगीत से ऐसा प्रतीत होता है कि हूल में सिदो–कान्हू को सुबा ठाकुर की उपाधि मिल चुकी थी और उन दोनों को छिपाने के उद्देश्य से या एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए पालकी का उपयोग किया जाता था। चाँद और भायरो दोनों रक्षक के रूप में घोड़ा के ऊपर सवार होकर चलते हैं, तो उसी क्रम में चाँद और भायरो को कहा जाता है कि घोड़ा को देखो भायरो कैसे मुरझाये हुए हैं।

संताली लोकगीत में नायक, जिसको गीत के माध्यम से हमेशा याद किया जाता है–

4.
तोकोय हुकूम ते बाजाल
तोकोय बोले ते...
रूपु सिंग तामोली दोम माक् किदिया!
रूपु सिंग तामोली दोम हेलेच किदिया....

इस गीत को बीर बाजाल के लिए उनकी माँ के द्वारा गाया गया था, जिसमें उसकी माँ कहती है कि किसके आदेश से बाजाल तुमने रूपु सिंग तामोली को काट डाला? किसके कहने पर रूपु सिंग तामोली को खत्म कर डाला? इस गीत के जवाब में बाजाल के द्वारा गाये गये गीत इस प्रकार है'

5
सिदो हुकूम ते नायगो
कान्हू बोले ते
रूपु सिंग तामोली दोञ माक् किदिया
रूपु सिंग तामोली दोञ हेलेच किदिया।

इस गीत में बीर बाजाल अपनी माँ से कहता है कि सिदो के आदेश से और कान्हू के कहने पर मैंने रूपु सिंग तामोली को काट डाला माँ।

6
ती रेताम काडी बाजाल
जांगा रेताम बाडी
आम दोम सेनोक कान
बाजाल सिवडी ञेहेल ते....

उपर्युक्त पंक्तिवाले गीत में बाजाल की माँ कहती है कि तुम्हारे हाथ में काड़ी है बाजाल और पैर में बेड़ी, तुम तो सिवड़ी जेल जा रहे हो।

इस गीत के जवाब में बाजाल कहता है–

7

ती रितीञ तिरयो बनाम
जांगा रेतिञ पायगान
इञ दोञ सेनोक् कान नायगो
सिवडी मेला ञेल....

इस गीत में बाजाल अपनी माँ से कहता है .... माँ हाथ में बाँसुरी और सितार है और पैर में पायगान है माँ.... मैं सिवड़ी मेला देखने जा रहा हूँ।

इस गीत से हमें यही जानकारी मिलती है कि बाजाल अंग्रेजी सैनिकों के द्वारा पकड़े गये हैं। उन्हें सिवडी जेल ले जाया जा रहा है। पर ऐसे मार्मिक और विषम परिस्थिति में भी एक आंदोलनकारी हँसते–हँसते जेल जाने को तैयार है।

इस तरह के अनगिनत लोकगीत समाज में भरे पड़े हैं, जिसको विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है। इन गीतों को संकलित करने की जरूरत है।

सिदो से संबंधित एक और गीत है। इस गीत को तभी गाया गया होगा, जब सिदो अंग्रेजी सिपाही के द्वारा पकड़े गये होंगे और उन्हें फाँसी देने की तैयारी चल रही होगी। इसकी सूचना चारों ओर फैल गयी होगी, लोगों की भीड़ रही होगी, तभी इस गीत को गाया गया था, प्रतीत होता है। सिदो के द्वारा गाया गया गीत–

8. (होमोर राड़)
काट पासी खोन
साहेब सुबा को डारवाक् केदा हो....
दिसाम होड़ को जारवा केत् ले
नोतें इञाक् पासी काट रे
लोक् कान जीवि दो
तोकोय इड़िच् तिञ...

उपर्युक्त गीत के जवाब में सिदो की फाँसी देखने के लिए एकत्रित भीड़ के द्वारा गाये गये गीत इस प्रकार हैं–

9.

साहेब सुबा को डारवाक् केदा हो
दिसाम होड़ को जारवो केत् से
लोक् कान जीवि दो तोकोय राड़ेच ताले।

फिर उपर्युक्त गीत के जवाब में सिदो ठाकुर के द्वारा गाये गये गीत इस प्रकार है–

10

ऐरा होपोन को खाटाव कोता पेया
जुमी जायगा को लिलाम तापे
उमिन रेगी लोक् कान जीवि दो
राड़ेञोक् तापेया....

उपर्युक्त सभी गीत फाँसी देने के समय का एक मार्मिक गीत है। जब सिदो किसी अपने लोगों के द्वारा ही पकड़े जाते हैं, उन्हें फाँसी देने की तैयारियाँ चल रही होती हैं, उस समय का मार्मिक गीत है। उस गीत के अंतिम पैरा में उन्होंने जो बातें उस भीड़ को गीत के माध्यम से सुनाई थी, आज के संदर्भ में संताल परगना के लोगों के लिए प्रासंगिक लगता है, क्योंकि आज जो परिस्थितियाँ संताल परगना में बनी है या बन रही है, जैसे जन, जंगल, जमीन और सभी संसाधनों की नीलामी हो रही है, मुझे तो ऐसा लगता है कि इन्हीं संसाधनों की बोली लगी होगी, मोल भाव हो रहा होगा और आज भी हम मूक दर्शक बन रहे हैं। सिदो–कान्हू के बाद आजतक इस क्षेत्र में ऐसा जननायक पैदा हुए ही नहीं या हम पैदा ही नहीं कर पाये हैं, जिससे हम सभी संसाधनों की रक्षा कर सकें और हम स्वाभिमान के साथ जी सकें।

ग़ज़लें

केशव शरण

चल रहा सब ख़राब अच्छा है
पर लहू, दिल–दिमाग ठंडा है
शौक़ था प्यार की पढ़ाई का
रोज़ दी जा रही परीक्षा है
ख़ूब है इश्क़ का हसीं सपना
ख़ूबतर हुस्न का छलावा है
ये तपस्या रही मगर इसको
जो सफलता मिली क़रिश्मा है
क्यों तुम्हारी क़लम सराहेंगे
जब न गढ़ना तुझे क़सीदा है
पूछते जात साधुओं तक की
ये यहाँ भी रिवाज़ फैला है
उम्र लगती बहुत निकलने में
ज़िंदगी ख़ूब भुलभुलैया है।

अज़ब रोक लगी ठहरना नहीं है
सनम की गली से गुज़रना नहीं है
कुहासा न हो आह भरनी नहीं है
तमाशा न हो राग भरना नहीं है
दुखे तन, दुखे मन, कहरना नहीं है
नयनकोर से अश्क़ झरना नहीं है
रखा सेब सिर पर सिहरना नहीं है
लगेगा नहीं तीर डरना नहीं है
सदा मानिए तुगलकी फ़ैसलों को
समझिए गुज़ारा वगरना नहीं है
अगर बाग़ से प्यार है, बाग़बाँ पर
कभी एक इल्ज़ाम धरना नहीं है
बड़े क़शमक़श में पड़ा दिल करे क्या
कि फ़रमान है इश्क़ करना नहीं है।

अब तक तूने ढूँढ़ा कोई
तुझ–सा है क्या तन्हा कोई
तेरा दुख पत्थर कर देगा
कह बैठा आईना कोई
ये सबकी चाहत होती है
चन्दा जैसा मेरा कोई
क्या सबको तुम याद रखे हो
क्या तुमको भी भूला कोई
उसके बूते से जो सहता
चलता रहता रिश्ता कोई
सबसे मिलते–जुलते रहिए
मिल जाता है अपना कोई
हर पत्थर क्या मोती होता
सच होता है सपना कोई।

न थे हम जो किसी भी बात से खुश
बहुत हैं इक़ तुम्हारे साथ से खुश
हमें कुछ चाहिए भी तो नहीं है
कि इतना हैं तुम्हारी बात से खुश
हक़ीक़त की हमें परवाह भी क्या
रखा है यूँ हमें ज़ज़्बात से खुश
किसी भी हाल में हमको रखो तुम
रहेंगे हम सदा हालात से खुश
मुहब्बत की नज़र या मुस्कुराहट
तुम्हारी हर किसी ख़ैरात से खुश
नहीं है दूसरा जिसने कि हमको
किया हो आत्मा से गात से खुश
तुम्हारी छत्रछाया में आता जो
रहेंगे हम उसी औक़ात से खुश।

आलेख

विशिष्ट गवेषणा की कृति– आदि–महाकवि वाल्मीकि के 10 अंतिम साहित्यिक अवदान

डॉ. विजय कुमार वेदालंकार (डी. लिट.)
सेक्टर 23, सोनीपत हरियाणा
दूरभाष–9896262488

श्री विजय रंजन सुधी अध्येता, शोधक, तर्कशास्त्री, लेखक और विधिवेत्ता तो है ही, साथ ही भारतीय ज्ञान परंपरा के महनीय ज्ञाता भी हैं। उन्होंने कृति ''आदि–महाकवि वाल्मीकि के 10 अंतिम साहित्यिक अवदान'' की रचना कर अद्‌भुत विचारणीय पक्षों की विवेचना की है, जो अद्यतन अनूठे और अछूते थे। निष्ठावान लेखक और शोधक विजय रंजन जी ने प्रस्तुत आलोच्य कृति में उन्हें अचर्चित पक्षों को उजागर करने का प्रयास किया है।

'काव्य' त्रिकालदर्शी हो या न हो, भविष्य को गढ़ने और काल–आबद्ध यथार्थ के संकुचित क्षणों से अतिक्रमण करने की कला तो है ही। संवेदना की तरलता और वैचारिकता की गहनता मूल्यबोध और स्वप्नानुकूलता एक साथ जिस बिंदु पर केन्द्रित हो जाते हैं, वहीं से अंतर्दृष्टि उपजती है। यही अंतर्दृष्टि लेखक को अपने समय, समाज और व्यक्ति को पढ़ने, सुनने और पुनर्सृजित करने का विवेक देती है।

आलोच्य कृति के माध्यम से बहुमुखी प्रतिभा के धनी, प्रखर आलोचक, विजय रंजन ने 'रामायणम्' के अप्रतिम बिंदुओं को उजागर करते हुए सहज स्वीकृति दी है कि 'भारतीय सद्‌संकार के साथ–साथ भारतीय ज्ञान परम्परा की साहित्यिक सापेक्षता को मुखरमान करने वाला महाग्रंथ है रामायणम्। संभवतः इन्हीं आधारों पर रामायणम् सनातन काव्य बीज या कि शाश्वत बीजकाव्य बन सका है।(पृ. 15)

यह दुर्योग ही है कि आदि–महाकवि वाल्मीकि के संदर्भगत अप्रतिम अवदानों की ओर अद्यतन हमारे प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन काव्यज्ञों और हमारे कथित बौद्धिकों ने सम्यक् ध्यान निवेशित नहीं किया।

यह सुयोग है कि तत्त्वान्वेषी शोधक विजय रंजन ने व्यावर्तक गुण–धर्म का पालन करते हुए वाल्मीकि रामायण के अप्रतिम अवदान को सुधी पाठकों के सामने लाने का महनीय स्तुत्य प्रयास किया है।

भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न विजय रंजन ने रामायणम् की विषय–आवृत्ति के अंतर्गत करणीय कर्म के सम्यक् आरेखन वाला धर्म, वर्तमान के ज्ञान–विशेष से विशिष्ट ज्ञान की पहचान, अनेक साहित्यिक वाद–प्रत्यय आदि का व्यावहारिक सम्प्रयोग और समुपयोगी लोकहिताय की प्रासंगिकता को भी विवेचित किया है।

प्रबुद्ध प्रमाता ने पूर्वार्चिक में स्पष्ट किया है कि उसने 'सारवान् सार्वोपयोगी देशनाओं के महत् फलित से रामायणम् को साहित्यिक महाकाव्य माना है। विद्वान् लेखक का मत है कि–

''रामायणम् एक धर्मग्रंथ या इतिहास या इतिवृत्ति या भूगोल या राजनीति या सामाजिकशास्त्र का ग्रंथ या कि विविध ज्ञान–विज्ञान विषयक ग्रंथ न होकर अनेकानेक ज्ञान–विज्ञान से समेकित पूर्वकाल में घटित सत्य घटनाओं की साहित्यिक अभिव्यंजित करनेवाला श्रेष्ठ महत् काव्य का उत्कृष्ट महाकाव्यीय साहित्यिक ग्रंथ है।''

सर्वप्रथम विद्वान् लेखक का स्पष्ट मत है कि ''सत्यं शिवं सुन्दरम् की समवेत नयशील, सत्वशील, सार्वसुंदरमशील, लोकसंग्रही महाकाव्यात्मक आक्षरिक आराधना का, साथ ही सार्वहिती महनीय विचारोंवाले सहित भावी अक्षर–आराधना का अप्रतिम साहित्यिक आदि महाकाव्य मानना और इसके प्रणेता को आदि–महाकवि मानना विवेकसम्मत, तर्कसंगत और तथ्यसंगत होगा।''

उत्तरार्चिक में लेखक ने रामायणम् का प्रणेता होने के कारण से आदि महाकवि वाल्मीकि को काव्य–नयवाद का प्रथम पुरुस्कर्ता माना है। उनकी दृष्टि से ''यह महाकाव्य नयशील संदेश से सुसंपृक्त, ऐतिहासिक सत्य तथ्यों की श्रेष्ठ साहित्यिक महाकाव्यीय अभिव्यक्ति रूप आदि महाकाव्य 'रामायणम्' लोकमंगलमय, सर्वकल्याणक, महत् लोकहिती और नयशीलत्व से युक्त है। साथ ही, इसमें कविता के क्षेत्र–विस्तार, कविता प्रयोजन ओर कविता निकष जैसे फलकों पर 'नयत्व' को प्रथम आधार बनाने का प्रथम पश्यन्ती निर्देश भी है। अतः स्पष्ट है कि रामायणम् का मूल चरित्र, मूलकथा, वृत्तचित्र आदि और बोलती बात–सभी नयशीलत्व से ही समेकित दिखते हैं।

विद्वान लेखन के पौर्वात्य एवं पाश्चात्य चिंतकों की मूल संकल्पनाओं पर भी तर्कपूर्ण ढंग से विमर्श किया है।

भावयित्री प्रतिभा के धनी विजय रंजन 'रामायणम्' के बौद्धिक कोश में समरैखिक अर्थबोध के तीन अलग–अलग प्रत्ययों से सृजित मानवाद, मानवतावाद और मानवीयतावाद को रामायणम् की प्रमुख विशेषता माना है। उनका मत है कि 'मानववाद' वस्तुतः 'मानव गरिमा के जयघोष' के साथ 'मानवी सक्षमता के स्वीकार' के बाद है। जबकि 'मानवतावाद' महनीय सद्‌गुणों का समवेत में संवाहक है और द्योतक भी है। स्पष्टतः 'मानव–सक्षमता', 'मानव– गौरव', 'मानव–गरिमा' और 'मानव–इयत्ता' का जो गौरवशील रूपायन 'रामायणम्' महाकाव्य में अक्षरांकित है, वैसा अंकन आविश्व अन्यत्र अलभ्य है। वास्तव में आर्ष मानवीय संस्कार, आर्ष मानवीय संस्कृति, श्रेष्ठ मानवीय सद्‌गुण और ऐसे सद्‌गुणों का गौरवगान रामायणम् में भरपूर गुंजरित है। 'रामायणम्' मानववाद के मूल आकल्पित स्वरूप से लेकर मानवीय संस्कार और मानवीय संस्कृति की कसौटी पर शत–प्रतिशत 'मानववादी' ठहरती है। एतदर्थ वाल्मीकीय मानववाद पाश्चात्य मानववाद से भी श्रेष्ठतम है। इससे उनका महाकाव्य प्रथम आविश्व मानववाद तथा मानवतावादी महाकाव्य सिद्ध होता है।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी विजयरंजन ने 'लोकवाद' पर भी सुष्ठु विमर्श किया है। उनके मतानुसार लोकवाद रामायण की विशिष्टताओं में अग्रेतर विशिष्टता है। विद्वान लेखक ने प्राचीन भारतीय शास्त्रजगत और भारतेतर मनीषियों की दृष्टि का अनुशीलन कर रामायणम् को साहित्य में लोकसंस्कृति, लोकहित संरक्षण, लोकसंग्रह आदि के निकषों पर श्रेष्ठ सिद्ध करने का तर्कसम्मत प्रयास किया है कि रामायरणम् अप्रतिम लोकवादी महाकाव्य है। अतः इसे आविश्व प्रथम लोकवादी महाकाव्य माना जाना ही तर्कसंगत है।

प्रख्यात विचारक विजय रंजन व्यवसाय से अधिवक्ता है, परन्तु वे एक संवेदनशील लेखक भी हैं। उनका रचना–कर्म हृदय और बुद्धि दोनों से संपृक्त है। विद्वान लेखक ने आज के नारीवाद पर भी चिंता व्यक्त की है। उनके अनुसार 'नारी ईश्वर का विलक्षण, किन्तु महनीय कृति है जो अनेकानेक सद्‌गुणों में और अनेक परिप्रेक्ष्यों में नर से श्रेष्ठ है। भारतीय मनीषा में इसलिए माना गया है कि 'नारी नर से भारी'। किन्तु यह कथन आज के पाश्चात्योन्मुखी

नारेबाजी में फँसकर रह गया है और भारतीय आदर्शशीलता का तिरोभाव हो गया है।

भारतीयता के उपासक विजय रंजन के मतानुसार वस्तुनिष्ठ नारीवाद का आदर्शशील स्वरूप आदि महाकवि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत 'रामायणम्' के आदर्श नारीवाद में निहित है। यह रामायणम् प्रणेता का विशिष्ट अवदान है। विद्वान लेखक ने पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिकों, कवियों, साहित्यकारों और लेखकों के विचारों के पक्ष–विपक्ष का मंथन कर यह स्पष्ट करने का आयास किया है कि समुचित नारी–सम्मान वाले और सदाशयी अर्थों में नारी–गरिमा के समुचित मान प्रदानक सार्वहिती 'गरिमाशील नारीवाद' रामायणम् में वस्तुनिष्ठतः वाचाल करनेवाले आदि–महाकवि वाल्मीकि को 'आदि नारीवाद कवि मानना पूर्णतः न्यायोचित है।इसी से आदि महाकवि वाल्मीकि नारीवाद के प्रथम प्रयोक्ता सिद्ध होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

विद्वान साहित्यकार विजय रंजन की मान्यता है कि शब्द बिम्बों का सम्प्रयोग भारतीय काव्यजगत् में सर्वप्रथम आदि महाकवि वाल्मीकि ने अपने लौकिक आदि महाकाव्य रामायणम् में सफलतमरूप में रूपायित किया है। इस संदर्भ में लेखक ने भारतीय काव्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्यों, उनकी मान्यताओं का भी मंथन किया है और सिद्ध करने का प्रयास किया है कि काव्य में बिम्बवाद का आविश्व प्रथम सम्प्रयोग निश्चयतः आदि महाकवि वाल्मीकि का अवदान है।

संवेदनशील साहित्यकार विजय रंजन ने आधुनिक लेखक और लेखिकाओं द्वारा प्रस्तुत प्रकृतिवाद के विकृत स्वरूप को भी उजागर किया है।संस्कृत और हिन्दी के अनेक कवियों ने प्रकृति को कल्पना के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत किया है, जबकि आदि महाकवि वाल्मीकि ने बाह्य आकृति के साथ अंतःप्रकृति के निरूपण में भी पटुता दिखाई है। स्पष्टतः प्रकृति के विभिन्न उपादानों का जैसा यथार्थपरक यथातथ्य प्राकृतिक वर्णन और सार्थक, सात्विक, मनोहारी दर्शन 'रामायणम्' में है, वह यथातथ्य होने के बावजूद प्राकृतिक सुषमा का रूपांकन है।इसी शालीन सात्विक प्रकृतिवाद के आविश्व सर्वप्रथम प्रयोक्ता आदि महाकवि वाल्मीकि हैं और उनकी कृति 'रामायणम्' प्रकृतिवाद का आविश्व सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

भारतीयता के प्रबल पोषक विजय रंजन जी का मत है कि भारतीय मनीषा में 'राष्ट्रवाद' को वायवीय 'भाव या विचार' मात्र के बजाय नितप्रति के जीवनाचार का राष्ट्रीय आचार माना गया है। इसी से 'भारतीय राष्ट्रवाद' भारतेतर राष्ट्रवाद से विशिष्ट है।यह कौतूहलजनित आश्चर्य का विषय है कि जब सहस्रों वर्ष पूर्व के कालखंड में आविश्व राष्ट्रवाद नामक 'वाद' का कहीं नामोनिशान तक नहीं था, तब रामकथा के विभिन्न प्रसंगों का चित्रांकन करते समय आदि महाकवि वाल्मीकि ने राष्ट्रवाद के विविध मौलिक अवयवों को रूपायित किया था।विद्वान् लेखक ने 'रामायणम्' के प्रत्येक कांड में संकेतित राष्ट्रवाद के बिंदुओं को संकेतित कर स्पष्ट कर दिया कि किसी भी 'वाद' का उल्लेख न होते हुए भी भारतीय सांस्कृतिकता के आश्लेष के ब्याज से 'भारतीय राष्ट्रवाद' का श्रेष्ठतम व्यावहारिक सम्प्रयोग रामायणम् में रूपायित है। अतः निर्विवादतः लेखक का मत है कि आदि महाकवि वाल्मीकि को प्रथम राष्ट्रवादी महाकवि और रामायणम् महाकाव्य को 'राष्ट्रवाद' का प्रथम लौकिक महाकाव्य मानना तर्कसंगत है।

आद्याचार्य भरत से लेकर अद्यतन आचार्यों द्वारा अनुमोदित 'रस' के अभाव में कोई भी 'काव्य' विरचित नहीं हो सकता।इस परिप्रेक्ष्य में विद्वान लेखक ने 'रामायणम्' के अंगीरस पर विचार करते हुए अपनी मौलिक प्रतिभा में रामायणम् के नवरसीय आधार पर आधान रस (अंगीरस) 'नय रस' को माना जाना तर्कोचित और तथ्यसम्मत स्वीकार किया है। इसे महाकवि का अति विशिष्ट अवदान माना जाना चाहिए।

यह भी ध्यातव्य है कि यह महाकाव्य कथ और कत्य आदि के माध्यम से काव्य के वस्तुनिष्ठ महत् तत्त्वों को साकारित करने वाला आविश्व अप्रतिम प्रथम महाकाव्य है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक मनीषियों के मतों का अनुशीलन कर विद्वान लेखक ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, उनमें रामायणम् को मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं के श्रेष्ठ स्वरूप में विद्यमान होने के ब्याज से इसे निर्विवादतः श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक कृति माना जा सकता है।

तत्त्वज्ञ अध्येता विजय रंजन जी ने देशज–विदेशज साहित्यिक निकषों पर भी 'रामायणम्' को देखा–परखा है।उन्होंने वैदिक, औपनिषदिक, पौराणिक मनीषियों, रामकथा– प्रणेताओं की दृष्टि, प्राचीन काव्याचार्यों के निकषों, अर्वाचीन हिन्दी काव्यमनीषियों, लेखकों तथा हिन्दी इतर भारतीय भाषा जगत् की दृष्टि से रामायणम् का आलोड़न–विलोड़न कर अपने मन्तव्य को प्रस्तुत किया है।साथ ही पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के काव्य–निकषों पर भी रामायणम् का अनुशीलन और मूल्यांकन किया है। विद्वान तर्कशास्त्री विजय रंजन ने यह सिद्ध करने का विनम्र प्रयास किया है कि सभी श्रेष्ठ काव्य–दृष्टियां से 'रामायणम्' आविश्व गरिमा और महिमा से उत्कृष्टतम कृति सिद्ध होती है।

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि आज भौतिकवादी युग में, जहाँ अनेक वाद–विवाद, धक्कमधुक्की वाली वैचारिक धुंधी में उलझ रहे हैं, जहाँ विद्वान लेखक विजय रंजन ने श्रेष्ठतर मानव–समाज बनाने के लिए आवश्यक जीवन–दृष्टियाँ प्रदान करनेवाले 'रामायणम्' ग्रंथ की प्रासंगिकता सिद्ध की है।

सुधी विचारक विजय रंजन ने अपने विस्तृत अध्ययन के आधार पर इस महत्त्वपूर्ण और गंभीर विषय को अपनी शैली में प्रस्तुत किया है।

आदि महाकवि वाल्मीकि के अप्रतिम अवदान को एक विषय मानकर लेखक ने गवेषणापूर्ण कार्य कर आधुनिक पाठकों, लेखकों और चिंतकों को एक दिशा दी है। मनीषी चिंतक विजय रंजन ने पौर्वात्य साहित्य के साथ पाश्चात्य विचारों का सामंजस्य स्थापित कर यह महत् कार्य किया है। वस्तुतः यह असाधारण लेखक का असाधारण कार्य है।

रचना का शिल्प–पक्ष क्लिष्टता से अछूता नहीं है।एक दृष्टि में रचना शब्दशः अनुवाद–सी प्रतीत होती है। सहृदय पाठकों के लिए विषय को सरल बनाने पर कम ध्यान दिया गया है। पाठक को विषय के साथ तादात्म्य बैठाने में बौद्धिक क्रीड़ा करनी पड़ती है। असाधारण रचनाकौशल के आग्रह ने लेखक को सहजता और सरलता से दूर कर दिया है।

स्पष्टतः प्रस्तुत कृति पाठकों, अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

मैं मित्रवर विजय रंजन को गंभीर, अनुप्रेरक, व्यावहारिक चिंतन–आधारित पारायण योग्य पुस्तक के सृजन पर हार्दिक बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि आप स्वस्थ, आसन्न रहकर वीणा–पाणि सरस्वती की सतत साधना करते रहें।

समीक्ष्य कृति : आदि महाकवि वाल्मीकि के 10 अप्रतिम साहित्यिक अवदान, कृतिकार : विजय रंजन, प्रकाशक : विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य–995, मो.–8287674809

आलेख

वृद्ध आश्रम...जीवन संध्या पर टिमटिमाते सितारे

महेश शर्मा
सिल्वर हील कॉलोनी,
धार (म.प्र.)
मो. 9340198976

मानव समाज में वृद्ध आश्रम होना किस बात का परिचायक है? हमारी मानवीयता का, हमारी सामजिकता का, हमारी वैचारिक उन्नति का या हमारे शर्मनाक स्वार्थपूर्ण लज्जास्पद सोच का?

वृद्ध आश्रम में रहनेवाले, मजबूरी में अपने अंतिम समय में शरण लेनेवाले लोग कौन हैं? यह वही है जिन्होंने अपने युवावस्था के दिनों में अपनी तीव्र इच्छाओं से ईश्वर से प्रार्थना कर करके कई–कई व्रत–उपवास मन्नतें इत्यादि के द्वारा संतान प्राप्ति की इच्छा की थी और संतान प्राप्ति की थी। इसके बाद दोनों पति–पत्नी या माता–पिता ने अपने सारे सुख–दु:ख को तिलांजलि देकर शारीरिक रूप से, मानसिक और आर्थिक रूप से अपने सभी सुखों का बलिदान देकर उन संतानों को पाला था। निश्चित रूप से प्रकृति द्वारा उनके मनोभावों में, उनके स्वभाव में, उनके विचारों में व्याप्त संतान–मोह इसका कारण होगा, लेकिन कारण जो भी रहा हो, उनकी सोच पर गौर किया जाए तो उन्होंने अपने बच्चों के लिए अपने सारे सुख बलिदान कर दिये थे। समय गुजरा। संतान के लिए अपनी जान भी दे देनेवाले उन मनुष्यों की वृद्धावस्था आई। आर्थिक क्षमता कमजोर हुई शारीरिक क्षमता लगभग शून्य हुई और वह समय आया, जब उनके द्वारा बोए हुए सेवा भाव के, संतान–मोह के बीजों को विशाल वृक्ष के रूप में विकसित होना था, किन्तु हुआ यह कि वह सारे बीज निरर्थक साबित हुए। उनमें कोई मानवीय संवेदना, मानवीयय कर्तव्य लाभ, लिये गये उपकार को लौटाने की प्रवृत्ति शून्य हो चुकी थी। ऐसे लोग कहाँ जाते? तब समाज के कुछ बुद्धिमान विलक्षण समर्थ लोगों द्वारा वृद्ध आश्रम की कल्पना की गई। वृद्ध आश्रम स्थापित किये गये और उसमें ऐसे बुजुर्ग जिन्हें या तो परिस्थितिजन्य कोई संतान नहीं थी पालनेवाली या वे संतानें थीं जो अपने पालकों के प्रति, अपने बुजुर्गों के प्रति निष्ठुर हो चुकी थी, उन लोगों को सुरक्षित और व्यवस्थित रखने का स्थान बनाया गया यानी वृद्ध आश्रम की स्थापना की गई। वास्तविक अर्थ यह है कि एक उन्नत समाज की वैचारिक जागरुकता का परिणाम तो है ही यह वृद्ध आश्रम, लेकिन यह व्यक्तिगत तौर पर उन निर्मोही, लापरवाह गैर जिम्मेदार, बल्कि दुष्ट प्रवृत्ति के अहसान फरामोश संतानों के अस्तित्व का भी सूचक है।

तो हम वृद्ध आश्रम पर कोई गर्व करें, ऐसा तो कुछ नही है, बल्कि वे समााजिक संस्थाएँ या वे शासकीय योजनाएँ धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इन उपेक्षित लोगों को कम–से–कम भौतिक तकलीफों से छुटकारा देने का प्रयास तो किये।

वृद्ध आश्रम की यह व्यवस्था न सिर्फ भारत देश में वरन् दुनिया के हर विकसित, विकासशील या अल्प विकसित देश में है। हम हमारे देश की ही बात करें। बड़े पुराने समय का कथानक हम पढ़ते हैं कि हमारे वेद और शास्त्रों के अनुसार मनुष्य का जीवन व्यवस्था के चार आश्रम होते हैं और चौथा आश्रम वह होता है जिसमें मनुष्य जंगलों में, उपवनों में, आश्रमों में जाकर रहता है। भगवत् ध्यान, अध्यात्म–अध्ययन करता है। सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते, इसलिए समाज को और शासन को यह आवश्यकता महसूस हुई कि कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ बनाई जाए जहाँ यह दुखी लोग, यह बुजुर्ग लोग अपने परिवार से उपेक्षित लोग जो समाज के द्वारा विस्मित कर दिये गये हैं, अपना शेष जीवन सुकून से बिता सके।

कुछ समय पहले की स्थिति को देखें, तो यह वृद्ध आश्रम की व्यवस्था अत्यन्त ही नगण्य उंगलियों पर गिनी जा सकने लायक थी। सन् 2015 का ही जो उपलब्ध आंकड़ा है। हिन्दुस्तान के मात्र 250 जिलों में 400 के लगभग वृद्धआश्रम थे। हिन्दुस्तान की आबादी के हिसाब से 2011 के आंकड़ों में कुल बुजुर्ग लगभग 14 करोड़ थे। इसमें से मात्र दो करोड़ के लगभग वृद्ध जिनकी चिंता उनके वंशजों ने नहीं की, वह वृद्ध आश्रम में रहते थे। इस दौरान 2011 से 15 के दौरान शासन द्वारा 100 से अधिक नये वृद्ध आश्रम खोलने की नीति बनाई गई और 2022 के जो उपलब्ध आंकड़े बताते हैं कि देश के लगभग 325 जिलों में 728 वृद्ध आश्रम हैं जिसमें लगभग 18000 वृद्ध व्यवस्थित सुविधा में पूर्ण जीते हैं।

भारत में अथवा अन्य विदेश में सामान्यतः दो प्रकार के वृद्ध आश्रम/ ओल्ड एज होम पाये जाते हैं। प्रथम या शुरुआती दौर के जो इस तरह के संस्थान हैं सरकार द्वारा संचालित होते हैं। समाज के विभिन्न स्वयं सहायता समूह यानी एनजीओ उन्हे संचालित करते है। शासन से उन्हें अनुदान के रूप में आर्थिक सहायता प्राप्त होती है, जिसका कि वह कुछ सही कुछ गलत उपयोग करते हुए उन बुझते सितारों के दैनिक जीवन की व्यवस्था करते हैं। इस वर्ग में वे लोग आते हैं, जिनकी कोई संतान नहीं है या संतानें हैं तो आर्थिक रूप से सक्षम नहीं है या वैचारिक रूप से वे निर्दयी व्यक्तित्व हैं जो अपने माता–पिता का ऋण चुका नहीं पाते और उन्हें बेहाल दु:खी स्थिति में छोड़ देते हैं। निश्चित रूप से समाज का और सरकार का कर्तव्य है, ऐसे जीवन संयम से हारे हुए या थककर असहाय बेसहारा घोषित हुए बुजुर्ग योद्धाओं को सम्मानजनक स्थिति प्रदान करें।

लेकिन एक वर्ग और भी है, जो पर्याप्त आर्थिक सम्पन्नता होते हुए भी अपने बच्चों के द्वारा चाहते हुए या नहीं चाहते हुए उपेक्षित अकेले रहने को मजबूर हैं। उन्हें रहने के इस तरह के ठिकानों का नाम भी कुछ सुहावना आकर्षक दिया गया है–ओल्ड एज होम'–जिनके बेटे और बहुएँ विदेश में रह रहे हैं या जिनके बेटे और बहु देश में रहते हुए भी परिवार में समय नहीं दे पाते हैं या जिनके बेटे और बहू की संवेदनाएँ और हार्दिक लगाव समाप्त हो चुका है तथा जो अपनी जिम्मदारियों से विमुख हो चुके हैं, वे लोग एक पर्याप्त आर्थिक शुल्क भुगतान कर इन बुजुर्गों को जिन्हें समस्या ग्रस्त समझ लिया गया है, ओल्ड एज होम में छोड़ जाते हैं। ऐसे भी कई ओल्ड एज होम हैं जो अच्छी खासी महँगी राशि प्राप्त कर उनके बुजुर्गों को भौतिक सुख–सुविधा और मानसिक संतोष देने के प्रयास करते हैं।

भारतीय शासन का सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय इन व्यवस्थाओं को देखता है। देश में लगभग 551 स्वयं सहायता समूह है, जो इनकी व्यवस्थाएँ देखते हैं और व्यवस्था के लिए शासन से अनुदान प्राप्त करते हैं। पिछले तीन वर्षों में शासन द्वारा लगभग 13 करोड़ रुपये का अनुदान इन स्वयं सहायता समूह को दिया जा चुका है। समाज के इन पिछली पीढ़ी के कर्मठ बुजुर्गों के ऊपर अब इस राशि में कितना सदुपयोग हुआ है, कितना दुरुपयोग हुआ है, इस बात का विश्लेषण सहज नहीं है। 2022 के देश के आंकड़े यह बताते हैं कि 250 जिलों के 400 वृद्ध आश्रम जो 2015 में थे जो बढ़कर 325 जिलों में 728 वृद्ध आश्रम हो चुके हैं, उसके

बावजूद देश के कम–से–कम 190 जिलों में एक भी वृद्ध आश्रम नहीं है।हम मध्यप्रदेश की बात करें तो मध्यप्रदेश के 52 जिलों में केवल 19 वृद्ध आश्रम है। यह सभी निजी स्वयं सहायता समूह संचालित है और इनके संचालन के लिए शासन से अनुदान राशि उन स्वयं सहायता समूह को प्रदान की जाती है। पूरे देश में 2020 के आंकड़ों के अनुसार संचालित हो रहे वृद्ध आश्रम में से 547 वृद्ध आश्रम की प्राप्त जानकारी के अनुसार इनमें से कुल 325 आश्रम पूर्णतया शासन और समाज के सहयोग से संचालित है। इनमें रहनेवाले वृद्धों से किसी भी प्रकार का कोई शुल्क नहीं लिया जाता है, लेकिन इन्हें 728 में से 95 वृद्ध आश्रम ऐसे हैं जो सशुल्क हैं, जिनके लिए वृद्ध के परिजनों से उनकी संतानों से शुल्क वसूला जाता है। 116 के लगभग ऐसे वृद्ध आश्रम हैं, जहाँ दोनों तरह की सुविधा सशुल्क और निःशुल्क प्राप्त है और इसमें दी जाने वाली सुविधाएँ भी उसी प्रकार विभाजित है जो सशुल्क तो अपेक्षाकृत सुविधाजनक है और जो निःशुल्क है, वह सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इन 547 आश्रमों में मुख्य रूप से वृद्ध बीमारों के लिए वर्गीकृत है और ऐसे ही 101 आश्रम केवल महिलाओं के लिए विभाजित।

केरल हिन्दुस्तान का वह प्रांत जो यूँ तो शिक्षित माना जाता है, किन्तु वहाँ सबसे ज्यादा वृद्ध आश्रम है लगभग 124 ।इसका क्या कारण है, यह तो समाजसेवी अध्ययनकर्ता ही पता लगा सकेंगे। आपके लिए वर्तमान में संपूर्ण देश की स्थिति दर्शाते हुए वह जानकारी प्रस्तुत है, जिसमें प्रदेशवार जानकारी दर्शायी गयी है–

प्रदेश	वृद्धाश्रम की संख्या	रहनेवाले वृद्ध
1.उड़ीसा	21	2500
2.आंध्रा	75	2000
3.तमिलनाडु	66	1795
4.असम	40	1295
5.कर्नाटक	39	11905
6.महाराष्ट्र	37	1135
7.उत्तरप्रदेश	28	920
8.बंगाल	26	825
9.मनीपुर	30	800
10.मध्यप्रदेश	19	600
11.राजस्थान	16	600
12.तेलंगाना	19	475
13.गुजरात	10	375
14.हरियाणा	15	375
इसके अलावा अन्य 15 आश्रम में		1350

इस तरह कुछ 29 प्रदेशों में स्थित 551 वृद्ध आश्रम में लगभग 16290 निराश्रित वृद्ध रहते हैं।

हिन्दुस्तान में 10 ऐसे भी सशुल्क वृद्ध आश्रम हैं जो विभिन्न प्रकार के भौतिक सुविधाओं से सम्पन्न है।जहाँ रहनेवाले वृद्धों को स्विमिंग पुल की सुविधा, ए.सी. में रहने की सुविधा और मनोवांछित भोजन प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध है, लेकिन ऐसे आश्रमों में रहनेवाले बुजुर्ग वही हैं, जिनकी संतानें आर्थिक रूप से समृद्ध हैं। जो अपने माता–पिता का ध्यान नहीं रख पाते, उनकी सेवा नहीं कर पाते; लेकिन उन सेवाओं के लिए जो भी आवश्यक हो, वह भुगतान कर सकते हैं।इस तरह के आश्रम जिन्हें ओल्ड ऐज होम कहा जाता है। वह कोची, बेंगलुरू, चेन्नई, देहरादून, गुरुग्राम, कोयंबटूर और फरीदाबाद आदि स्थानों में विस्तृत परिसरमें संपूर्ण सुविधाओं युक्त स्थित है। इन आश्रमों में 35000 मासिक से लेकर उच्चमत राशि तक भुगतान किया जाना आवश्यक है।साथ ही इन आश्रमों में प्रवेश प्राप्त करते समय आरंभिक शुल्क 200000 से प्रारंभ होता है, जो सुविधानुसार बढ़ता जाता है। निश्चित रूप से ऐसे परिजन भौतिक सुविधाओं को भोगते हुए संतुष्ट रह सकते हैं, लेकिन आप उनके मानसिक रूप से भोगते एकांत के दर्द का अहसास कीजिए। यह सभी समय का समझौता करते हुए अपने जीवन का शेष समय काट रहे हैं, क्योंकि मनुष्य को केवल भौतिक सुविधाएँ, आर्थिक सम्पन्नता उतना संतोष कभी नहीं देता जितना उसे अपनापन दर्शानेवाले, अपने परिवार के सदस्य, अपने युवा बेटे–बहू या अपने नन्हें नाती–पोते दे सकते हैं और इस तरह का कोई भी सुख यह वृद्ध आश्रम या यह ओल्ड एज होम या यह सामाजिक स्वयं सहायता समूह या शासन द्वारा दिए गए अनुदान उपलब्ध नहीं करवा सकते।लेखक द्वारा कुछ वृद्ध आश्रम का भौतिक रूप से निरीक्षण अध्ययन और विश्लेषण किया गया (धार, मध्यप्रदेश स्थित एक आश्रम में सत्कार अधिकारी के रूप में भी अपनी सेवाएँ दे रहे हैं, पर यह पाया गया है कि कुछ आश्रमों की व्यवस्था तो ईमानदारी समर्पित और निष्ठावान लोगों के हाथों में है, किन्तु ज्यादातर आश्रमों की स्थिति उनके संचालकों द्वारा येन केन प्रकारेण समाज सेवा की औपचारिक नाटकीयता दर्शाते हुए, जिसे स्पष्ट भाषा में कहेंगे ढोंग करते हुए कुछ आर्थिक लाभ प्राप्त करने की रही है और ऐसे संचालकों, व्यवस्थापकों या समूह द्वारा समाज के उन भावुक श्रद्धावान सज्जन लोगों की भावनाओं का शोषण भी किया जा रहा है जो मानसिक रूप से बुजुर्गों की सेवा करना उनके लिए अपनी आर्थिक स्थिति कमजोर होने के बावजूद सहायता करना और अपना बहुमूल्य समय देना पुण्य कार्य मानते हैं और ऐसा करते हुए एक आत्मतुष्टी महसूस करते हैं। यद्यपि आश्रमों की व्यवस्था देखनेवाले कुछ स्वार्थी भले ही हों, फिर भी उनका योगदान बहुमूल्य है, क्योंकि आज की जीवनचर्या में अपना समय देना भी बहुत कठिन होता जा रहा है।

कुछ गिने–चुने उदाहरण इन बातों की तुमुल उद्घोषणा करते हैं कि समाज में यत्र–तत्र मानवीयता अभी भी जिंदा है और मानव मात्र के प्रति सेवा भाव तथा बुजुर्गों के प्रति उनके किए गए त्याग और बलिदान की प्रतिपूर्ति के लिए कुछ करने की मनोवृत्ति भी मनुष्य का मूल भाव है जो कहीं–कहीं अपने विशाल रूप में दर्शित होता है।मध्यप्रदेश के धार जिले में स्थित श्रद्धालय वृद्ध आश्रम ऐसे ही एक आदर्श पवित्र और महान उद्देश्यों के लिए कार्यरत संस्थान है जिसने उपलब्धता के बावजूद शासन से किसी भी प्रकार की कोई सहायता न लेते हुए अपने छोटे से वृद्ध आश्रम को एक संतुष्टिदायक आनंददायक संस्थान के रूप में जीवित रखा है, जिसकी सदस्यता पारदर्शिता और ईमानदारी से समाज के प्रबुद्ध जन बिना विशेष प्रयास के अपना सहयोग देते रहते हैं।

यदि बेटे–बेटियों द्वारा अपने माता–पिता का ध्यान नहीं रखा जाता है, उनके लिए समय नहीं दिया जाता है, उनके लिए कुछ आर्थिक व्यय भी नहीं किया जाता यह समाज का दुर्गुण है, मानवीय अपराध है, दोष है, तो उसी की प्रतिपूर्ति के लिए कुछ समाज जन वृद्ध आश्रम के संचालक के रूप में उन्हें समय–समय पर हर तरह का सहयोग उपलब्ध करवाने के रूप में निःस्वार्थ रूप से तत्पर भी हैं। ऐसे सामाजिक जवाबदेही वहन करनेवाले अधिकारी, परोपकारी व्यक्तित्व के लिए हमें उनका हृदय से धन्यवाद ज्ञापित कर उनका उत्साहवर्धन करना चाहिए तथा उन्हें हर संभव आवश्यक सहयोग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, तभी हम एक संतुलित और संतुष्टिदायक सामाजिक व्यवस्था बनाए रखते हैं।

आलेख

शबरी के प्रेम में भक्ति की ज्योति

डॉ. श्रीनलिनी श्रीवास्तव
'शिवायन', भिलाई, मध्यप्रदेश
मो. 9752606036

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का गोस्वामी तुलसीदास एक अनमोल हीरा है जिसकी आभा की दीप्ति ने भारतीय साहित्य–जगत को सदैव के लिए ज्योतिर्मय बना दिया। काल की गति पर विजयश्री की पताका लहराने में तुलसीकृत रामचरितमानस सर्वथा सक्षम है। तुलसीदास अपने युग के वरेण्य वरदान हैं। तुलसीदास जी ने मानव कुल के प्रतिनिधि के रूप में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी को चुना और मानव कल्याण की भावना से अपनी काव्य शक्ति के द्वारा रामचरितमानस की संरचना की। रामचरितमानस में समन्वय की विराट चेष्टा है। तुलसीदास जी के श्रीराम मर्यादापुरुषोतम हैं। आदर्श उनकी रोम–रोम में समाया था। यह आदर्श जो भारत की अपनी मूल अवधारणा को अभिव्यंजित करती है। नैतिकता उनका मूलमंत्र है। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में जगत के कटु व्यवहारों को अपने सौम्य स्वभावों से सहकर उसमें स्नेह की अपूर्ण मिठास का संचार किया है। युग की विषमताओं से टक्कर लेकर भी तुलसीदास जी हिन्दुत्व की दीपशिखा को प्रज्वलित कर उसकी ज्योति की कक्षा को पूर्ण समर्पित भाव से किया है। तुलसीदास भक्त कवि पंडित सुधारक और लोकनायक थे। आपने सत्य के आधार पर शिवं का यह प्रासाद खड़ा किया जिसके सौंदर्य के अमरत्व में समस्त विश्व सदैव आकर्षित होता रहेगा। भक्तिकाल का वस्तुतः रामचरितमानस एक अनूठा रत्न है। यह तुलसीदास जी के दृढ़ संकल्प का ही प्रतिफल है कि रामचरितमानस में सर्वत्र मानव की प्रतिपल परिवर्तित होनेवाली विविध भावनाएँ परिलक्षित होती हैं। भाषा की दृष्टि से तुलसीदास जी की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से कभी नहीं की जा सकती। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहीं तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभती है और जहाँ शास्त्रीय और गंभीर होती हैं, वहीं पाठक का मन चील की तरह मँडरा कर प्रतिपाद्य सिद्धान्त को ग्रहण कर उड़ जाता है। इस प्रकार तुलसीकृत रामचरितमानस वर्तमान परिवेश में भारतीय साहित्य वसुधा को सदैव के लिए ज्योर्तिमय बना दिया है। सम्पूर्ण रामचरितमानस में सर्वत्र शान्त धारा अपनी अविरल गति से प्रवाहित होती है।

सावन शुक्ला सप्तमी के दिन तुलसीदास ने अपना नश्वर शरीर का त्याग किया था। तुलसी जयंती जन्म–दिवस में नहीं, मृत्यु–तिथि में मनाई जाती है। यह बात तुलसीदास जी के सच्चे गौरव को प्रगट करती है। तुलसीदास जी के रामचरितमानस में मानव–जीवन की पूर्णता प्रगट हुई है। यह कौन नहीं जानता कि भगवान का रूप अज्ञेय अचिन्त्य है। वही साकार होकर मनुष्य का जन्म लेकर मानव–जीवन के समस्त दुखों को स्वीकार कर उसे आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण कर देता है। ''व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद। सो भज प्रेम भगति बस कौशल्या कें गोद।।'' तुलसी के रामचरितमानस में वर्णित उनके पात्र मानव के रूप में चित्रित हुए हैं और उनके उज्ज्वल चरित्र एवं मानवीय गुणों के कारण हम उन्हें ईश्वर स्वरूप स्वीकार करने में संदेह नहीं करते हैं। सूर्यवंश के राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं–कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। कौशल्या के पुत्र राम, सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न कैकेयी के पुत्र भरत। इस प्रकार राजा दशरथ के अयोध्या में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न–चारों का बाल्य–सुलभ चपलता के साथ बहुत ही स्नेहिल वातावरण में व्यतीत हुआ। लक्ष्मण बाल्यकाल से ही श्रीराम के चरणों में अगाध श्रद्धा रखते थे। श्रीराम को वे अपने प्रभु समझते थे।

विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दशरथ से श्रीराम को माँगने आये तो उस समय श्री राम के साथ लक्ष्मण जंगल गए और यज्ञ की रक्षा में श्रीराम के साथ सदैव तत्पर रहे। श्री रामचन्द्र जी जब छोटे थे, तब लक्ष्मण उनके चरण दबाते थे। श्री रामचन्द्र जी के जागने के पहले ही लक्ष्मण जाग जाते थे। लक्ष्मण सदा सेवक की तरह श्रीराम की सेवा करते। उनके प्रति लक्ष्मण ने जैसी भक्ति की वैसे ही विश्वास की दृढ़ता भी। उनमें जैसा शौर्य था, जैसा दर्प था, वैसी ही उनमें शूरवीरता भी थी। इसी से सीता स्वयंवर में जब राजा जनक ने यह कहा–पृथ्वी अब क्षत्रिय विहीन हो गई है। तब लक्ष्मण को कोप आया, फिर भी श्रीराम के चरणकमलों पर सिर नवा कर जनक जी को उन्होंने उत्तर दिया– यदि श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा हो तो इस पुराने धनुष को क्या, मैं मेरू को भी तोड़ डालूँ; परन्तु मेरे इस कार्य में श्रीराम के ही प्रताप और बल का प्रभाव होगा। यदि मैं यह कार्य न कर सकें तो मुझे प्रभु रामचन्द्र जी की सौगंध कि मैं फिर अपने हाथ में धनुष नहीं रखूँगा। लक्ष्मण जी के इन शब्दों में एक ओर शौर्य का दर्प है, तो दूसरी ओर शक्ति की दृढ़ता भी। लक्ष्मण जी के लिए श्रीराम सर्वस्व थे। वे श्रीराम को छोड़कर किसी को कुछ जानते ही नहीं थे। इसीलिए श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें समझाया–तुम यदि मेरे साथ वन के लिए जाते हो तो अयोध्यानगरी अनाथ हो जाएगी। तुम यहीं रहकर सब लोगों को प्रसन्न करो। तब लक्ष्मण जी ने स्पष्ट कहा–मैं गुरु, माता, पिता किसी को नहीं जानता हूँ। मेरे लिए तो तुम्हीं एक स्वामी हो। मैं मन से, वचन से आपके चरणों में प्रेम रखता हूँ। इसीलिए लक्ष्मणजी अपनी माता सुमित्रा से वन जाने के लिए विदा माँगने गये, तब सुमित्रा ने भी बात कही। तुम्हारी माता सीता है और पिता श्रीराम हैं। तुम्हारे लिए वहीं अयोध्या है जहाँ श्री राम का निवास है। इसीलिए तुम उनके साथ सहर्ष वन जाओ। श्रीराम के साथ लक्ष्मण वन खुश होकर गए। क्या यह लक्ष्मण का त्याग है या त्याग की महिमा या भक्ति का गौरव है?

यदि श्रीराम लक्ष्मण को वन न ले जाते, तो लक्ष्मण को अत्यधिक दु:ख होता। श्रीराम की आज्ञा से भले ही वे दु:ख को सह लेते, परन्तु अपने हृदय में यह समझते कि श्रीराम के चरणों के प्रति अवश्य कोई कमी है। लक्ष्मण को श्रीराम के साथ रहने में ही सच्चे सुख की अनुभूति होती थी। जहाँ त्याग की भावना होती है, वहीं मनुष्य स्वेच्छा से आनन्द को छोड़कर कष्ट को स्वीकार करता है। उसी त्याग में ही उसकी आनन्द की रुचि होती है। लक्ष्मण जी ने अयोध्या को छोड़ा, माता सुमित्रा को छोड़ा और नवपरिणीता वधू उर्मिला को भी छोड़ दिया। सच पूछा जाय तो त्याग उसी का वंदनीय होता है, जो अपने सर्वस्व का त्याग कर एक मात्र विश्व कल्याण की कल्पना करे। जब यह विचार करना पड़ता है कि अपने माता–पिता और पत्नी को छोड़कर लक्ष्मण जी ने रामचन्द्र जी के साथ वनवास में रहना

स्वीकार किया। उसमें क्या उनकी यह स्वार्थवृत्ति काम नहीं कर रही थी। जिसके कारण यह कहा जाता है–'आत्मनस्तु कामाय सर्वम् प्रिय भवतु।' राम का वियोग उनके लिए असह्य था। अतएव उस असह्य दुख से बचने के लिए उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के साथ वन में जाना स्वीकार किया।

भरत को भी श्रीराम के प्रति असीम प्रेम था। उन्होंने कहा–यदि आप अयोध्या नहीं लौट सकते हैं, तो लक्ष्मण के स्थान पर मुझे अपने साथ रख लीजिए; परन्तु श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें आज्ञा दी कि वे अयोध्या में रहकर राज्य की व्यवस्था करें। तब भरत जी ने चौदह वर्षों तक अपनी स्वेच्छा से एक तपस्वी की भाँति रहकर समस्त राजकीय वैभव का त्याग किया। ऐसी विषम स्थिति में भरत ने अपने कर्तव्यपालन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की। यह त्याग की महिमा है। इससे भी अधिक त्याग की महिमा हम उर्मिला जी में देखते हैं। सीता जी की छोटी बहन होने के साथ–साथ उर्मिला में भी वही भाव था, जो सीता जी में था।

''वन दु:ख नाथ के बहुतेरे। भये विषाद परिताय धनेरे।।
प्रभु वियोग लवलेश समाना। सब मिलि होहि न कृपानिधाना।।''

उर्मिला के हृदय में भी अपने पति का वियोग उतना दु:खदायी नहीं रहा होगा, जितना सीता जी के हृदय में था। सीता जी ने कहा–

राखिए अवध जो अवधि लगि रहत न जानि अहिं प्राण।
दीनबंधु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान।।

लेकिन इसके विपरीत जिस भाव से चौदह वर्ष अपने पति के दुख–वियोग में सह लिया, उसमें त्याग की लम्बी महिमा है। त्याग की महिमा को स्वेच्छा से समस्त सुखों और सर्वस्व को विश्व के हित में छोड़ जाने में है।

प्रसिद्ध इतिहासकार बिसेंट स्मिथ ने तुलसीदास को अपने युग का भारत में सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना है। तुलसीदास जी के संबंध में यह कविता प्रसिद्ध है–

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।।

तुलसीदास जी के रामचरितमानस में मानव–जीवन की पूर्णता प्रगट हुई है। यह कौन नहीं जानता कि भगवान का रूप अजेय और अचिन्त्य है। वहीं भगवान साकार होकर मनुष्य का जन्म लेकर मानव–जीवन के समस्त दु:खों को स्वीकार कर उसे आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण कर देता है।

तुलसी के रामचरितमानस में वर्णित पात्र, उनके उज्ज्वल चरित्र एवं मानवेत्तर कार्यों से हम उन्हें अचिन्त्य हरि और ईश्वर मानते हैं। यही तुलसी रामचरितमानस का असाधारण पक्ष है। रामचरितमानस में त्याग की महिमा का वृतांत एक से बढ़कर एक है। कर्तव्य की शिला पर रामचरितमानस का कोई भी पात्र अपने आप को पीछे नहीं रखना चाहता।

रामचरितमानस की एक पात्र शबरी है। शबरी के हृदय में निश्छल प्रेम का ऐसा अगाध समुद्र लहरा रहा है कि उस प्रेम की कोई सीमा नहीं थी। दिन–रात महीने और वर्षों से श्री राम जी की आने की प्रतीक्षा में आँखें बिछाए हुए थी। शबरी के हृदय में मतंग ऋषि के वचनों का पूरा विश्वास था। राजा राम कभी–न– कभी प्रेम का निश्छल भाव को समझेंगे, अवश्य आयेंगे, यही विश्वास की दीप्ति शबरी के मन में आशा की किरणें निरन्तर उसे आनन्दित करती रहती थी। राजा राम मेरी कुटिया में आयेंगे तो मैं उनका स्वागत कैसे करूँगी? यही सोच प्रतिदिन जंगल से कंद– मूल–फल और मीठे बेर इकट्ठे करती। अपनी कुटिया के सामने सुन्दर–सुन्दर फूलों की पखुड़ियों से आसन बनाती। उसे देख– देखकर खुश होती। साथ–साथ शबरी राम की प्रतीक्षा करते– करते काल की गति से शिथिल होने लगी; लेकिन उसके विश्वास में कभी आशंका नहीं आई। शबरी प्रतिदिन यही कहती निश्चित ही राजा राम मेरे घर आयेंगे। यही विश्वास सत्य का प्रतिफल होता है कि शबरी के प्रेम में भक्ति की ज्योति निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

एक दिन आशा और विश्वास की जीत हुई। शबरी की कुटिया में श्री रामचन्द्रजी आए। कमल सदृश्य नेत्र विशाल भुजा वाले, सिर पर जटाओं का मुकुट और हृदय पर फूलों की माला धारण किए हुए सुन्दर सलोने श्रीराम और लक्ष्मण को अपने घर में आए देखकर उनके चरणों से लिपट गई। शबरी की असीम भक्ति बार–बार प्रेम में मगन हो उन चरण कमलों में सिर नवाती है। सुन्दर आसन में शबरी श्रीराम और लक्ष्मण जी को बैठाती है। कंद–मूल–फल और बेर को प्रभु श्रीराम को खिलाने लगी। प्रेम में मगन कहीं बेर खट्टे न हो जाए, यह सोच शबरी बेर को चखते हुए मीठे–मीठे बेर दोने में रखती जाती। श्रीराम उदारता के साथ उन बेरों की प्रशंसा करते हुए खाने लगे। बरसों की अतृप्त अदम्य लालसा से शबरी को असीम सुख मिला।

जो बड़े–बड़े ऋषि, मुनि, ज्ञानी और योगी भी इस सुख को पाने के लिए तरसते रहते हैं। शबरी कहती है मैं मंदबुद्धि हूँ। मुझे समझ नहीं आ रहा है कि आपकी स्तुति कैसे करूँ?

जाति पाति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।।
भगतिहीन नर सोहई कैसे। बिनु जल वारिद देखिअ जैसे।।

अर्थात् जाति–पाँति, कुल–धर्म, बड़ाई, धन–बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता–इन सबके होने पर भी भक्ति–रहित मानव ऐसा ही शोभाहीन दिखाई देता है, जैसे जलहीन बादल। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने शबरी के नवधा भक्ति को देखकर उसके जीवन को सफल कर दिया। पहली भक्ति सत्संग का प्रतिफल, दूसरा निश्छल प्रेम, तीसरा अभिमान–रहित भक्ति, चौथा निष्कपट होकर सद्गुणों का ध्यान करना, पाँचवा दृढ़ विश्वास, छठवीं नैतिक आचरण, सातवाँ सर्वत्र समभाव रखना, आठवाँ परमसंतोष, नवाँ सरल व्यवहार। इस नवधा भक्ति का एक भी गुण मनुष्य या जड़ चेतन किसी के पास हो, तो वे सभी श्री रामचन्द्रजी के लिए प्रिय पात्र हैं। जो गति योगियों के लिए दुर्लभ है, वही शबरी को निश्छल प्रेम के कारण सहज सुलभ हो गई।

रामचरितमानस में राम की लौकिक और अलौकिक शक्ति की बात करते हुए गाँधी जी लिखते हैं–''मुझे यह अमूल्य और अद्वितीय खजाना राम–नाम की शक्ति का रहस्य मिल गया है, जिसके जादू से केवल शरीर और मन का ही रूपान्तर नहीं हो जाता, वह सारे वातावरण में परिवार, समाज, देश और सारे संसार तक में व्याप्त हो जाता है।

मुझे उसकी शक्ति का दिनों दिन अधिक स्पष्ट दर्शन हो रहा है। राम–नाम में अपनी प्रगाढ़ आस्था भक्ति के ही कारण गाँधी जी ने राम–नाम को ही अपना पेनिसिलिन माना है। गांधी जी का यह दृढ विश्वास था कि वैज्ञानिक औषधि का उपयोग कर मरने के वजाय वे राम–नाम के विज्ञान में शहीद हो जाना अधिक उपयुक्त समझते थे। इस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के प्रति प्रेम और भक्ति ही जीवन को सार्थक बनाने के लिए पर्याप्त है।

आलेख

शिक्षा नीति में भारतीयता और स्वदेशी मूल्यों का समावेश

विभा कनन (शिक्षिका)
कृष्ण राघवन नगर बोलिपलायम
कोयम्बतूर, तमिलनाडु
फोन 8957637355

शिक्षा केवल ज्ञानार्जन का साधन नहीं, बल्कि किसी भी राष्ट्र की आत्मा होती है। यह समाज के चिंतन, संस्कृति और सभ्यता का प्रतिबिंब है। भारत जैसे प्राचीन और बहुसांस्कृतिक देश के लिए शिक्षा सदैव केवल आजीविका का साधन नहीं रहीं, बल्कि चरित्र निर्माण, सामाजिक समरसता और आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम रही है। आज जब भारत वैश्वीकरण के दौर में आत्मनिर्भरता और स्वदेशी चेतना की ओर अग्रसर है, तब यह आवश्यक हो गया है कि हमारी शिक्षा नीति में भारतीयता और स्वदेशी मूल्यों का समावेश किया जाए, ताकि हम आधुनिकता के साथ अपनी जड़ों से भी जुड़े रहें।

भारत की पारंपरिक शिक्षा प्रणाली: स्वदेशी ज्ञान का आधार

भारत की शिक्षा परंपरा अत्यंत प्राचीन और समृद्ध रही है। तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, बल्लभी और कांचीपुरम् जैसे विश्वविद्यालयों में अध्ययन केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित नहीं था, बल्कि जीवनमूल्यों, धर्म, दर्शन, चिकित्सा, गणित, खगोल और कला का गहन अध्ययन होता था। गुरुकुल प्रणाली में शिक्षा का आधार 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' जैसी समष्टिगत सोच थी। वहाँ शिष्य केवल विषय नहीं सीखता था, बल्कि समाज, प्रकृति और स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व भी समझता था।

यह स्वदेशी शिक्षा प्रणाली आत्मनिर्भरता, सादगी और संस्कारों पर आधारित थी। शिक्षक का सम्मान सर्वोपरि था और शिक्षा को व्यापार नहीं, बल्कि साधना माना जाता था।

औपनिवेशिक काल और शिक्षा का परकीयकरण

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की शिक्षा प्रणाली पर गहरा आघात हुआ। 1835 में लॉर्ड मैकॉले की शिक्षा नीति ने भारतीय परंपरा को कमजोर किया और अंग्रेजी माध्यम को श्रेष्ठ घोषित कर दिया।

इस नई व्यवस्था का उद्देश्य भारतीयों में 'क्लर्क' तैयार करना था, ऐसे लोग जो मानसिक रूप से अंग्रेजी सोच अपनाएँ और अपनी जड़ों से कट जाएँ। परिणामस्वरूप, शिक्षा का उद्देश्य 'जीविका' तक सीमित हो गया, जबकि 'जीवन' की शिक्षा पीछे छूट गई।

भारतीय भाषाओं, साहित्य, दर्शन और स्वदेशी विज्ञान को 'अप्रासंगिक' बताया गया। यह वह दौर था जब भारत की आत्मा को शिक्षा से अलग कर दिया गया।

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा की नई दिशा

स्वतंत्र भारत में शिक्षा नीति के माध्यम से भारतीयता की पुनर्स्थापना का प्रयास आरंभ हुआ। राधाकृष्णन आयोग (1948–49) ने शिक्षा को 'राष्ट्रीय चरित्र निर्माण' का माध्यम बताया, जबकि कोठारी आयोग (1964–66) ने शिक्षा को राष्ट्रीय विकास की कुंजी कहा। इसके बावजूद शिक्षा प्रणाली लंबे समय तक औपनिवेशिक ढाँचे में ही चलती रही। परीक्षा केंद्रित, अंकों की होड़ और रोजगार केन्द्रित सोच ने विद्यार्थियों को मूल्यों से दूर किया। फिर भी, स्वदेशी चेतना और भारतीय दृष्टिकोण को पुनर्जीवित करने के प्रयास निरंतर होते रहे।

नई शिक्षा नीति 2020 : भारतीयता की पुनर्स्थापना का प्रयास

वर्ष 2020 में घोषित राष्ट्रीय शिक्षा नीति (छम्च 2020) इस दिशा में ऐतिहासिक मील का पत्थर है। यह नीति केवल शैक्षणिक सुधार नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण का संकेत है। इसका उद्देश्य है 'भारत को ज्ञान का वैश्विक केंद्र बनाना, जहाँ परंपरा और आधुनिकता का समन्वय हो।'

नीति के प्रमुख स्वदेशी तत्त्व :

1. मातृभाषा में शिक्षा :

प्रारंभिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा देने का निर्णय भारतीयता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं, बल्कि विचार का माध्यम है। जब बच्चे अपनी मातृभाषा में सोचते हैं, तो वे अपनी संस्कृति से गहरा जुड़ाव महसूस करते हैं।

2. भारतीय ज्ञान प्रणाली का समावेश:

नीति में वैदिक गणित, योग, आयुर्वेद, खगोलशास्त्र, तंत्रज्ञान, नाट्यशास्त्र, दर्शन और कला के अध्ययन को प्रोत्साहित किया गया है। इससे विद्यार्थियों को अपने देश की वैज्ञानिक और सांस्कृतिक परंपरा पर गर्व महसूस होगा।

3. नैतिक और मूल्य आधारित शिक्षा :

शिक्षा को केवल रोजगार नहीं, बल्कि नैतिकता, सेवा और सह–अस्तित्व के सिद्धांतों से जोड़ा गया है। यह वही मूल्य है जिन्हें भारतीय संस्कृति ने सदियों से 'सत्य, अहिंसा, करुणा और श्रम' के रूप में स्वीकारा है।

4. स्थानीय और स्वदेशी कला का संरक्षण :

नीति में स्थानीय कला, संगीत, लोक संस्कृति और हस्तशिल्प के संरक्षण पर बल दिया गया है। विद्यार्थियों को अपने क्षेत्रीय विरासत से जोड़ने का यह एक सशक्त माध्यम है।

5. शिक्षक की भूमिका में परिवर्तन :

शिक्षक को केवल अध्यापक नहीं, बल्कि 'मार्गदर्शक और राष्ट्रनिर्माता' की भूमिका दी गई है जो भारतीय गुरुकुल परंपरा की पुनर्स्थापना जैसा है।

भारतीयता का सार : शिक्षा के तीन आयाम–

भारतीयता का अर्थ केवल परंपरागत प्रतीकों तक सीमित नहीं, बल्कि जीवन–दर्शन में निहित है। भारतीय दृष्टि में शिक्षा के तीन आयाम हैं–

1. ज्ञान (बुद्धि का विकास)
2. भक्ति (भावना का परिष्कार)
3. कर्म (आचरण की शुद्धता)

जब ये तीनों एक साथ संतुलित रूप में विकसित होते हैं, तभी शिक्षित व्यक्ति संपूर्ण बनता है। यह समग्रता ही भारतीय शिक्षा की आत्मा है।

स्वदेशी मूल्य : शिक्षा की आत्मा

'स्वदेशी' का अर्थ केवल देशी वस्तुएँ नहीं, बल्कि देशी विचार और स्वतंत्र दृष्टिकोण है। शिक्षा में स्वदेशी मूल्य तभी आएँगे, जब हम उसे अपने जीवन, पर्यावरण और समाज से जोड़ेंगे।

मुख्य स्वदेशी मूल्य :

1. स्वावलंबन और सादगी विद्यार्थी आत्मनिर्भर बने, उपभोगवादी नहीं।
2. प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता : भारतीय जीवनशैली 'प्रकृति पुरुष' की है। शिक्षा में पर्यावरणीय चेतना आवश्यक है।
3. समरसता और समानता : जाति, वर्ग या भाषा से परे मानवता की भावना।
4. सेवा और सहयोग : शिक्षा का उद्देश्य समाज की भलाई में योगदान देना हो।

5. आध्यात्मिकता और नैतिकता: भारतीयता का मूल तत्व 'अंत:शुद्धि' है।

भारतीय भाषाएँ और शिक्षा : चुनौतियाँ और संभावनाएँ

नई शिक्षा नीति में मातृभाषा को प्राथमिकता देना एक क्रांतिकारी कदम है, लेकिन इसके सामने कई चुनौतियाँ भी हैं–

सभी भाषाओं में उच्च शिक्षा के लिए पर्याप्त सामग्री का अभाव।

प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी।

अभिभावकों की अंग्रेजी माध्यम के प्रति झुकाव।

फिर भी, यह दिशा सही है।

आज तकनीकी अनुवाद उपकरणों और डिजिटल शिक्षा प्लेटफॉर्मों के माध्यम से भारतीय भाषाओं में उत्कृष्ट सामग्री तैयार की जा सकती है।यदि नीति निर्माता, शिक्षक और समाज मिलकर कार्य करें, तो मातृभाषा आधारित शिक्षा भारतीयता की मजबूत नींव बन सकती है।

शिक्षक प्रशिक्षण में भारतीयता का समावेश

भारतीय शिक्षा प्रणाली तभी सफल होगी, जब शिक्षक स्वयं भारतीयता का प्रतीक बनें।

शिक्षक केवल विषय विशेषज्ञ नहीं, बल्कि मूल्य–संवाहक भी हों। उनके प्रशिक्षण में यह सुनिश्चित किया जाए कि वे भारतीय दर्शन, संस्कृति, लोककथाओं और नैतिक परंपराओं को शिक्षा में सम्मिलित करें। प्रशिक्षण संस्थानों में भारतीय ज्ञान प्रणाली को अनिवार्य विषय के रूप में जोड़ा जाना चाहिए।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली और आधुनिक प्रबंधन का समन्वय

भारतीय शिक्षा में जहाँ 'संस्कार' थे, वहीं आधुनिक शिक्षा में 'संरचना' है। आज आवश्यकता है कि दोनों का संतुलन स्थापित किया जाए। गुरुकुल की आत्मीयता और आधुनिक विद्यालय की तकनीकी दक्षता–दोनों मिलकर एक ऐसी प्रणाली बनाएँ जो न केवल ज्ञान दे, बल्कि जीवन को दिशा दे।यह 'भारतीयता का आधुनिक रूप' होगा।

प्रशासनिक दृष्टिकोण से स्वदेशी शिक्षा :

नीति निर्माण के स्तर पर भी स्वदेशी दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। प्रशासन को शिक्षा को केवल बजट या संसाधन का विषय नहीं, बल्कि राष्ट्रनिर्माण का साधन मानना होगा। सरकार द्वारा 'भारतीय ज्ञान प्रणाली केंद्र', 'आयुष शिक्षा', 'राष्ट्रीय शिक्षण संसाधन पोर्टल' जैसी पहलें इसी दिशा में है।इनके माध्यम से भारतीय मूल्य प्रशासनिक ढाँचे में भी अपनी जगह बना रहे हैं।

वैश्विक संदर्भ में भारतीयता

भारतीयता का अर्थ संकीर्णता नहीं है। हमारी संस्कृति 'वसुधैव कुटुंबकम्' का संदेश देती है अर्थात् समूचा विश्व एक परिवार है।इसलिए शिक्षा में भारतीयता का समावेश हमें वैश्विकता से दूर नहीं, बल्कि और अधिक मानवीय बनाता है। भारतीय ज्ञान, योग, आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन, ध्यान और अहिंसा जैसी अवधारणाएँ आज विश्वभर में स्वीकृत हो चुकी हैं।जब हम इन्हें शिक्षा का हिस्सा बनाते हैं, तो हम 'लोकल टू ग्लोबल' की सच्ची दिशा में बढ़ते हैं।

भविष्य की दिशा : भारतीय शिक्षा का वैश्विक नेतृत्व

भारत का लक्ष्य केवल तकनीकी दक्षता नहीं, बल्कि मानवीय नेतृत्व है।इसके लिए हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जो व्यक्ति को सोचने, अनुभव करने और निर्णय लेने की स्वतंत्रता दे, पर भारतीयता की सीमाओं में। नई पीढ़ी में यदि स्वदेशी सोच, आत्मगौरव और समाजसेवा की भावना जागृत हो, तो भारत पुन: 'विश्वगुरु' बनने की राह पर अग्रसर होगा।शिक्षा वह साधन है जो व्यक्ति को मनुष्य बनाती है और राष्ट्र को सशक्त करती है। आज जब भारत आधुनिकता और परंपरा के संगम विंदु पर खड़ा है, तब यह अत्यंत आवश्यक है कि हमारी शिक्षा नीति में भारतीयता और स्वदेशी मूल्यों का समावेश हो।नई शिक्षा नीति ने इस दिशा में आशाजनक शुरूआत की है, परंतु इसकी सफलता तभी होगी जब शिक्षक, विद्यार्थी, अभिभावक और नीति निर्माता सभी मिलकर इसे व्यवहार में लाएँ।

भारतीय शिक्षा का उद्देश्य केवल 'पढ़ा–लिखा व्यक्ति' तैयार करना नहीं, बल्कि 'संस्कारवान नागरिक' बनाना है।जब तक शिक्षा में भारतीय आत्मा नहीं झलकेगी, तब तक राष्ट्र की आत्मा अधूरी रहेगी।

इसलिए आज समय की माँग है–

''शिक्षा भारतीय हो, विचार स्वदेशी हो और दृष्टिकोण वैश्विक हो।''

तभी हम सच्चे अर्थों में आत्मनिर्भर, संस्कारित और सशक्त भारत का निर्माण कर सकेंगे–वह भारत जो अपने अतीत से प्रेरणा लेकर भविष्य का मार्गदर्शन करे।

श्रेष्ठता का तांडव

मीनाक्षी छाजेड़
कोलकाता , टोलीगंज

चपल–चंचल तड़ित बिजली,
चमक उठी अम्बर बीच,
वह गौरी–सी सज–सँवर
ली उन्मुक्त अंगड़ाई खींच।

फूट पड़ीं स्वर्णिम किरणें,
उसके उज्ज्वल अंगों से,
चकाचौंध हो गया जग सारा,
देख निराले रंगों से।

आरम्भ हुआ तांडव नर्तन,
काँप उठा सारा संसार,
गर्जन करते मेघ बने तब,
उसके मदमस्त साथी अपार।

जब मेघमय होती संध्या,
लय से मिलती गति की धार,
प्रकृति के प्रचंड स्वरूप से,
मच उठता जीवन में हाहाकार।

प्रलय और विनाश की छाया,
क्षण भर में छा जाती है,
मान–स्वाभिमान मिट जाते सब,
जड़ता सी छा जाती है।

शून्यता के सागर में
इस कदर ना खो जाएँ
कि मानवता का उत्कृष्ट गुण
विवेक जीवन में ही ना पायें।

कहीं ऐसा ना हो

प्रगति दत्त
मो 7055145050

वक्त यूं ही गुजर जाये ।
कहीं ऐसा ना हो ।
जीवन व्यर्थ चला जाये ।
कहीं ऐसा ना हो ।
कोई पहचान ना बन पाये ।
कहीं ऐसा ना हो ।
कोई मुकाम ना मिल पाये ।
कहीं ऐसा ना हो ।
मेहनत रंग ना ला पाये ।
कहीं ऐसा ना हो ।
बस पछतावा हाथ आये ।
कहीं ऐसा ना हो ।

दुनिया भूल तुझे जाये ।
कहीं ऐसा ना हो ।
सपना टूट के बिखर जाये ।
तो क्यूं ना छोड़ कर,
अब ये मैं द्धअहम ऋ
तू फिर हम पर आ जाये ।
और अपना जीवन चमकाये ।
यदि ऐसा करे तो फिर ,
जीवन सुखमय हो जाये ।
सच ! सब पल में बदल जाये ।

आलेख

गिरमिटिया प्रवासी हिन्दी साहित्य में नारी चित्रण

डॉ रमा दुधमाड़े
महिला महाविद्यालय
संभाजीनगर, महाराष्ट्र
मो.–8975032435

'गिरमिटिया' शब्द में ही पीड़ा है, दर्द है। गुलामी की शर्त पर विदेश भेजे जानेवाले भारतीय मजदूरों को इस नाम से जाना जाता था। इस गुलामी की प्रथा को गिरमिटिया 1834 से लेकर 1917 तक चला। हर साल 10 से 15 हजार मजदूर गिरमिटिया बनाकर फिजी, दक्षिण अफ्रीका आदि को ले जाया करते थे। यह सब अंग्रेजों द्वारा किया जा रहा था।

गिरमिटिया साहित्य भारतीयों के विदेशों में प्रवास और संघर्ष की कहानियों को बयाँ करता है। यह साहित्य मुख्य रूप से हिन्दी में लिखा गया। गिरमिटिया साहित्य में नारी चित्रण एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसमें नारी की स्थिति, उनके संघर्ष और उनके जीवन के अनुभवों को दर्शाया गया है। वस्तुतः पराये देशों में पराये होने की अनुभूति और उस अपरिचित परिवेश में समायोजन के प्रयास, नॉस्टेल्जिया, सफलताएँ और असफलताओं को ही प्रवासी साहित्य का आधार है।

आज इस प्रपत्र में नारी लेखिकाओं के लिखे साहित्य में नारी चित्रण की बात होगी। वे पूरी ईमानदारी से शिद्दत के साथ भारतीय जनमानस की सामाजिक, पारिवारिक पारंपरिक स्थितियों का चित्रण करते हुए समाज की दशा और दिशा को बयाँ कर रहे हैं।

विदेशों में हिन्दी साहित्य के विकास में लगे इन रचनाकारों में उल्लेखनीय नाम उषा प्रियंवदा, उषा वर्मा, दिव्या माथुर, जाकिया जुबेरी, अचला शर्मा, तोशी अमृता, कादम्बरी मेहरा, कीर्ति चौधरी जैसे नाम हैं। सुषमा देवी, उषा देवी कोलेटकर, रेणु राजवंशी, मधु महेश्वरी, सुधा ओम ढींगरा इनका जिक्र किया जा सकता है। पूर्णिमा वर्मन भी एक अति महत्त्वपूर्ण नाम है।

गिरमिटिया साहित्य में नारी के शोषण और उत्पीड़न को दर्शाया गया है। जो उनके पतियों या अन्य पुरुषों द्वारा किया जाता था। नारी की स्थिति सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा था। गरीबी, अनपढ़ता, सामाजिक अन्याय आदि। इस साहित्य में आत्म–सम्मान और स्वतंत्रता की लड़ाई, प्रवास और बसने के अनुभव व्यक्तिगत और पारिवारिक अनुभव आदि।

ब्रिटेन की प्रवासी हिन्दी कथाकार जाकिया जुबेरी ब्रिटेन की लेबर पार्टी की सक्रिय सदस्या हैं। कई बार चुनाव जीतकर काउंसिल में निर्वाचित हो चुकी हैं। इसका अनुभव संसार के कई देशों में फैला है। जाकिया का पहला कहानी संग्रह 'सांकल' राजकल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। उनकी कहानी 'मारिया' में एक पीड़ादायक सच्चाई हमारे सामने आती है कि वे अपनी जड़ों से जुड़े भारतीय हैं, पर जहाँ रह रहे हैं, वहाँ के जीवनमूल्यों में कहीं–कहीं एकदम भिन्न है। ऐसे में किसके साथ चलें यह द्वंद्व उनके सामने एक चुनौती की तरह खड़ा हो जाता है, यह द्वंद्व उसे दोनों परिवेश से अलग खड़ा कर देता है। इनकी कहानी मन की सांकल, मेरे हिस्से की धूप, स्त्री मन की कई बंद सांकलों को खोलती है।

जाकिया जुबेरी की कहानी सांकल में नारी मन के विभिन्न पहलुओं पर केन्द्रित है जो अभी भी भारत को अपने भीतर बसाए हुए हैं। वे द्वंद्व और नॉस्टेल्जिया की कहानियाँ हैं। स्त्री मन में भीतरी तहों में दबे सच में सामने आते हैं।

गिरमिटिया साहित्य में नारी चित्रण एक महत्त्वपूर्ण विषय है। गरिमा श्रीवास्तव का 'देह ही देशाक्रोएशिया प्रवास डायरी में लेखिका क्रोएशिया, बोस्निया की उन युद्ध पीड़िताओं से मिलकर जो स्त्रियाँ अपने अतीत से बाहर निकल चुकी थीं, कुछ के लिए अतीत ही वर्तमान बन गया था। इस डायरी में छोटी–छोटी घटनाएँ, कहानियाँ, अनुभव, अपनी साधारणता में जीते हुए लोग (स्त्रियाँ) इस पुस्तक के केन्द्र में है। युद्ध के प्रभाव दूरगामी होते हैं। कुछ स्त्रियों को देहश्रम को ही आजीविका आधार बनाना पड़ा।

विध्वंस से सिर्फ मानसिक आघात ही नहीं लगते, बल्कि अस्तित्व समस्या इससे पैदा होती है। उपेक्षा और क्रूरता स्त्रियों के प्रति हाशिये पर धकेल दी गई औरतें, पशुवत् खरीद–बिक्री की जाती लड़कियाँ शोषण, हिंसा और यातनाएँ, यातना की दास्तानें जो ये बताती हैं कि स्त्रियों की देह पर नियंत्रण करना युद्ध नीतिकार ही एक हिस्सा होता है।

स्त्रियों के अनुभव स्त्री–देह से जुड़े होते हैं। इसलिए वे पुरुष संसार के अनुभवों से विलग और निर्लिप्त होते हैं। देह ही देश क्रोएशिया प्रवास डायरी गरिमा श्रीवास्तव ने लिखी है। इसमें दर्ज घटनाओं का विवरण वैश्विक स्तर पर दर्ज किये गये ऐतिहासिक घटनाओं को स्त्री संबंधी दृष्टि से देखने की अपील करती है।

युद्धों का इतिहास हो या फिर वर्चस्व का वर्तमान दौर हो हर लड़ाई में स्त्रियों के अस्तित्व को कैसे कुचला और रौंदा गया है, इसका करुण दर्दनाक ब्योरा हमें इस डायरी में देखने को मिलता है।

इतिहास को फिर से देखने–लिखने की आवश्यकता स्त्री को किसी जाति विशेष से जोड़कर न देखा जाना, युद्धों के इतिहास, पुनर्समीक्षा और स्त्री संघर्ष को अन्य संघर्षों को अलग रूप में देखने की सिफारिश किन कारणों से की जाती रही। 'देह ही देश' प्रवास डायरी में लेखिका ने अपने साहस और सत्य से बुद्धिजीवी की दृष्टिकोण बदलने का प्रयास किया है। डायरी में दर्ज घटनाओं का विवरण वैश्विक स्तर पर दर्ज किये गये ऐतिहासिक घटनाओं को स्त्री संबंधी, दृष्टि से देखने की अपील करती है। लेखिका स्त्रीवादी संगठनों द्वारा की गई उपेक्षा के सच को स्पष्ट रूप में प्रकाश में लाया है। लेखिका कहती है–''इतिहास के पन्नों का युद्ध और झेले गये युद्ध में बड़ा फर्क होता है। जिसमें युद्ध की विभीषिका झेली गई है, उसका जिक्र किताबें नहीं करतीं।''

वास्तविक स्थितियाँ कैसी रही होंगी। बलात्कार के कारण लाखों की संख्या में गर्भवती हुई महिलाएँ साथ बलात्कार, किसी के इनकार करने पर उसकी बर्बर हत्या, रोज सामूहिक बलात्कार और अंत में लेखिका की स्टूडेंट की पढ़ाई के खर्च के लिए वेश्यावृत्ति का सहारा लेना है। ये घटनाएँ सिर्फ इस डायरी का सच नहीं है, बल्कि हमारी दुनिया का ऐसी नंगा सच है, जिसपर हमारे समाज में बात करने भर से भी नैतिकता पर आँच आ जाती है। ऐसे इस सच को तलाशकर निरपराध महिलाओं को जगाकर हमारे समाज में बात करने भर से भी नैतिकता पर आँच आती है। ऐसे में इस सच को तलाशकर निरपराध महिलाओं को जगाकर, अपनत्व और मानसिक स्थिति को चुनौती देकर लिखना डायरी में बेस्नियाई स्त्रियों के प्रति यौन हिंसा स्त्रीवादियों और स्वयंसेवी संस्थाओं के स्त्रीविरोधी सच को व्यक्त करने का साहस, सत्य के प्रति आग्रह को तो दिखाता ही है। समाज को भी जागृत करता है। 'देह ही देश' अतीत और वर्तमान पर एक संरचनात्मक सवाल खड़े करती है, लेखिका कहती है–''हम अपने समाज के पुरुषों को यह तालिम क्यों नहीं देते कि स्त्रियों के साथ सामान्य जीवन में कैसे व्यवहार किया जाए।'' इन सामाजिक मूल्यों में

हमने शिकस्त खाई है।

स्त्री संघर्ष और समस्याओं को व्यावहारिक पक्ष को समझने के संदर्भ में यह डायरी हमेशा एक 'कालजयी सत्य का साहित्य' के रूप में अध्ययन किया जाएगा, क्योंकि वह बर्फ की तरह ठंडी हो गयी थी। इस डायरी में बोस्तिया की औरतें हैं, जिनके साथ उनके बच्चों की मौजूदगी में बलात्कार किया गया है। उनमें बहुत–सी मर गयीं। कुछ पागल हो गयी। कुछ वेश्या बन गयी और बाकी चुप रहने लगी। बीती घटनाओं को बताते वक्त पचपन साल की सेम्का को पसीना और चक्कर आने लगता है। एमिना अपमान और शोषण की स्मृति के कारण वह लोगों पर विश्वास नहीं करती। नीसा यातना से बचने के लिए पागल होने का नाटक करती है।

एक किसान महिला स्नेजना अब थक गयी है। वे कहती हैं–हमें तो देश की हालत की भी सही जानकारी नहीं थी, फिर हमारे साथ ऐसा क्यों किया गया।''

इस डायरी का मुख्य विषय पूर्वी यूरोप के संयुक्त युगोस्लाबिया में 90 के दशक में हुए युद्ध और झड़पों के बाद देश के हुए विखंडन से विस्थापित हुए नागरिकों खासकर स्त्री की स्थिति है। शारीरिक और मानसिक शोषण के बाद स्त्री कितना जीती है, यह एक ऐसा सवाल है जो इस किताब में 'देह के देश' तक की यात्रा करता रहता है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्रवासी साहित्य में स्त्री कथाकारों की बहुलता और प्रधानता है। गिरमिटिया प्रवासी साहित्य विश्वस्तर पर हिन्दी भाषा के विकास में अहम भूमिका निभाई है और भाषा से रू–ब–रू करता नये मूल्यों की स्थापना करता है।

यह साहित्य भारत से अपनी–अपनी संस्कृति भाषा और समाज से कटकर जीविका के लिए विदेशों में संघर्ष करते भारतीयों की मनोदशा और आंतरिक पीड़ा को अभिव्यक्त करता है।

इसके अध्ययन के दो मूल आधार होंगे। पहला आधार तो उन गिरमिटिया मजदूरों के वंशजों के लेखन का है जो अपने समाज से कटकर मॉरिशस, फिजी, सुरीनाम, त्रिनिदाद आदि स्थानों पर बसा दिये गये। गिरमिटिया मजदूरों की दूसरी पीढ़ी जो वहीं पैदा हुई, लेकिन अपने पूर्वजों की पीड़ा को भूला नहीं पायी और उस दर्द को कहानी, उपन्यास, कविता आदि के माध्यम से व्यक्त किया है।

संदर्भ ग्रंथ–
1. देह ही देश– गरिमा श्रीवास्तव
2. प्रवासी महिला कहानीकार–डॉ. प्रभा शर्मा

कविताएँ :

शिवानंद सिंह 'सहयोगी'
शिवाभा, 14 विवेकानंद कॉलोनी, भगवानपुर
मो.–94122 12255

वह जो है

वटवृक्ष की जड़
बहुत गहरी है

वह जो है
जीवन का नद
नग से उतरता है
वह नागफनियों
के शहर
से भी गुजरता है
खाइयों की
बाँह में है
नहीं जहरी है

वह जो है
जूही खिली
मुसकान भरती है
तितलियों के
शहर में भी
पाँव धरती है
गंध की
है वाटिका
पंख पहरी है
वह जो है
पर्वत खड़ा
ऊँची चढ़ाई है
बेल–बूटों
की सजी
हरियल कढ़ाई है
झाँझ की
झनकार का
साहित्य लहरी है।

हवलदार के बाग में
नहीं एक भी
पेड़ बचा है
हवलदार के बाग में

लेटी सड़क
खड़े कुछ घर हैं
कहीं नहीं
चिड़ियों के पर हैं
जल का रूप
दिखाई देता
सूख रही डल झाग में

छत पर धूप
धरा पर जन हैं
हँसते मॉल
खड़े वेतन हैं
मेहनत ओर
मजूरी के मन
जीते अपने राग में
पुरबी सुबह
पश्चिमीपन है
हँसती साँझ
दिवालीपन है
नई सभ्यता
कूद रही है
पश्चिमता की आग में।

घर आते ही यह सोचा
घर आते
यह सोचा मिल लूँ
भूले बिसरों से

संबंधों के
अंग–अंग को
अब तो लकवा मार गया है
जीत गई है
चकई झूठी
सच का चकवा हार गया है
अढ़उल–सा
थोड़ा–सा खिल लूँ
देवों–पितरों से
बदला दिन
बदली हैं रातें
लगता है फागुन आया है
सूर्यमुखी के
नतमस्तक पर
कल वसंत पाहुन आया है
बचा–खुचा
अपनापन बिन लूँ
फूटे तिहरों से
एक समय था
एक साथ हम
मिलजुल रहना चाह रहे थे
गाँव–गली
चप्पे–चप्पे पर
मानवता की आह रहे थे
यादों की
परतों को छिल लूँ
मन के मिसरों से।

आलेख

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास

शैलेन्द्र चौहान
प्रतापनगर, जयपुर, (राजस्थान)
मो.–7838897877

छापने की पहली मशीन भारत में 1674 में पहुँचायी गयी थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के भूतपूर्व अधिकारी विलियम बोल्ट्स की सन् 1776 में भारत से पहला अखबार प्रकाशित करने की योजना थी, लेकिन कंपनी से मतभेद होने के कारण वह अखबार प्रकाशित नहीं कर सका। उसने एक पुस्तक अवश्य प्रकाशित की। 15वीं शताब्दी के मध्य में योहन गुटनबर्ग ने छापने की मशीन का आविष्कार किया। असल में उन्होंने धातु के अक्षरों का आविष्कार किया था। इसके फलस्वरूप किताबों का ही नहीं अखबारों का भी प्रकाशन संभव हुआ। 16वीं शताब्दी के अंत में यूरोप के शहर स्त्रास्बुर्ग में योहन कारोलूस नाम का कारोबारी, धनवान ग्राहकों के लिए सूचना पत्र लिखवाकर प्रकाशित करता था, लेकिन हाथ से प्रतियों की नकल करने का काम महँगा था और धीमा थी। तब उसने छापे की मशीन खरीद ली और सन् 1605 से समाचार–पत्र छापने लगा। समाचार–पत्र का नाम था 'रिलेशन'। यह विश्व का प्रथम मुद्रित समाचार–पत्र माना जाता है।

भारत का सबसे पहला अखबार जिसमें विचार स्वतंत्रा रूप से व्यक्त किये गये, वह 21 जनवरी, 1780 ई. में जेम्स ऑगस्टस हीकी का अखबार 'बंगाल गजट' था। अखबार में दो पन्ने थे और इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी के वरिष्ठ अधिकारियों के व्यक्तिगत जीवन पर लेख छपते थे। जब हीकी ने अपने अखबार में तत्कालीन ब्रिटिश गर्वनर की पत्नी पर आक्षेप किया तो उसे 4 महीने के लिए जेल भेजा गया और 500रुपये का जुर्माना लगा दिया गया, लेकिन हीकी ने शासकों की आलोचना करने से परहेज नहीं किया और जब उसने गवर्नर और सर्वोच्च न्यायाधीश की आलोचना की तो उसपर 5000 रुपये का जुर्माना लगाया गया और एक साल के लिए जेल में डाला गया। इस तरह उसका अखबार बंद हो गया। 1790 के बाद भारत में अंग्रेजी भाषा के और कुछ अखबार प्रकाशित हुए जो अधिकतर शासन के मुख्यपत्र थे। भारत में प्रकाशित होनेवाले समाचार–पत्र थोड़े–थोड़े दिनों तक ही जीवित रह सके।

1819 में किसी भारतीय भाषा में जो पहला समाचार–पत्र प्रकाशित हुआ था, वह बंगाली भाषा का पत्र संवाद कौमुदी' (बुद्धि का चाँद) था उसके प्रकाशक राजा राम मोहन राय थे। 1822 में गुजराती भाषा का साप्ताहिक 'मुंबईना समाचार' प्रकाशित होने लगा, जो दस वर्ष बाद दैनिक हो गया और गुजराती के एक प्रमुख दैनिक के रूप में आजतक विद्यमान है। भारतीय भाषा का यह सबसे पुराना समाचार–पत्र है। 1826 में 'उदंत मार्तण्ड' नाम से हिन्दी के प्रथम समाचार–पत्र का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। यह साप्ताहिक पत्र 1827 तक चला और पैसे की कमी के कारण बंद हो गया। 1830 में राजा राममोहन राय ने बड़ा हिन्दी साप्ताहिक 'बंगदूत' का प्रकाशन शुरू किया। यह बहुभाषीय पत्र था, जो अंग्रेजी, बंगला, हिन्दी और फारसी में निकलता था। यह कोलकाता से निकलता था जो अहिंदी क्षेत्र था। राजा राममोहन राय हिन्दी का महत्त्व समझते थे। 1833 में भारत में 20 समाचार–पत्र थे, 1850 में 28 हो गये और 1953 में 351. इस तरह अखबारों की संख्या नाममात्र को ही सही, पर बढ़ी। बहुत से पत्र जल्द ही बंद हो गये। उनकी जगह नये निकले। अधिकतर समाचार पत्र कुछ महीनों से लेकर दो–तीन साल तक जीवित रहे। उस समय सभी भारतीय समाचार–पत्रों की आकांक्षाएँ और समस्याएँ प्रायः समान थीं। वे नया ज्ञान अपने पाठकों को देना चाहते थे और उसके साथ समाज–सुधार की भावना भी उसमें निहित थी। सामाजिक सुधारों को लेकर नये और पुराने विचारवालों में कुछ अंतर होते थे। इस कारण नये–नये पत्र निकले। उनके सामने यह समस्या भी थी कि वे पाठकों को किस भाषा में समाचार और विचार दें। दूसरी समस्या थी–भाषा शुद्ध हो या सबके लिए सुलभ हो। 1846 में राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद ने एक हिंदी पत्र 'बनारस अखबार' का प्रकाशन शुरू किया। राजा शिव प्रसाद शुद्ध हिंदी का प्रचार करते थे और अपने पत्र के पृष्ठों पर उन लोगों की कड़ी आलोचना करते जो बोलचाल की हिन्दुस्तानी के पक्ष में थे, लेकिन उसी समय के हिन्दी लेखक भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ऐसी रचनाए रचीं, जिनकी भाषा समृद्ध भी थी और सरल भी। इस तरह भारतेंदु ने आधुनिक हिंदी की नींव रखी और हिंदी के भविष्य के बारे में हो रहे विवाद को समाप्त कर दिया। 1868 में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने साहित्यिक पत्रिका 'कविवचन सुधा' निकालना आरंभ किया। 1854 में हिंदी का पहला दैनिक समाचार 'सुधा वर्षण' निकला।

आधुनिक हिंदी पत्रकारिता का जन्म अठारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में हुआ। हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (1826) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की ऐंग्लोइंडियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफी विकसित हो गयी थी। इन वर्षों में फारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। 18वीं शताब्दी के फारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखत पत्र थे। 1801 में हिन्दुस्थान इंटेलिजेंस ओरिऐंटल ऐंथॉलॉजी (भ्पदकनेजींद पदजमसपहमदबम व्लपमदजंस ।दजीवसवहल) नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ, उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारों' के नाम और उद्धरण थे। 1810 में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लीथो पत्र 'हिंदोस्तानी' प्रकाशित करना आरंभ किया। जैसा कि हम जानते हैं 1816 में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजट' का प्रकाशन आरंभ किया। यह पहला बंगलापत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचारपत्र 'समाचार दर्पण' (27 मई, 1818) का आरंभ किया। इन प्रारंभिक पत्रों के बाद 1823 में हमें बंगला भाषा के समाचार चंद्रिका और 'संवाद कौमुदी' फारसी, उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' और 'शमसुल अखबार' तथा गुजराती के 'मुंबई समाचार' के दर्शन होते हैं।

अतः यह सुस्पष्ट है कि हिन्दी पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (1833) और मराठी का 'दिग्दर्शन (1837) हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (1826) के बाद ही आए। 'उदंत मार्तण्ड' के संपादक पंडित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक पत्र था। पत्र की भाषा पछाँही हिन्दी थी, जिसे पत्र के संपादकों ने 'मध्यदेशीय भाषा' कहा है। यह पत्र 1827 के बाद बंद हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना संभव नहीं था। कंपनी सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परन्तु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तण्ड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी।

1826 से 1873 ई. तक को हम हिन्दी पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते हैं। 1873 ई. में भारतेन्दु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद यह 'हरिश्चंद चंद्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कविवचन सुधा' पत्र 1867 में ही सामने आ गया था और

उसने पत्रकारिता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग किया, परन्तु नई भाषाशैली का प्रवर्तन 1873 में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग मात्र कहे जा सकते हैं, उनके पीछे पत्रकला का ज्ञान अथवा नये विचारों के प्रचार की भावना संभवतः नहीं थी। 'उदंत मार्तण्ड' के बाद प्रमुख पत्र हैं–बंगदूत (1829), प्रजामित्र (1834), बनारस अखबार (1845), मार्तण्ड पंचभाषी (1846), ज्ञानदीप (1846), मालवा अखबार (1849), जगद्दीप भास्कर (1849), सुधाकर (1850), साम्यदंड मार्तण्ड (1850), मजहरूलसरूर (1850), बुद्धि प्रकाश (1852), ग्वालियर गजेट (1853), समाचार सुधावर्षण (1854), दैनिक कलकत्ता, प्रजाहितैषी (1855), सर्वहित कारक (1855), सूरज प्रकाश (1861), जगलाभ चिंतक (1861), सर्वोपकारक (1861), प्रजाहित (1961), लोकमित्र (1863), भारतखंडामृत (1864), तत्वबोधिनी पत्रिका (1865), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (1866), सोमप्रकाश (1866), सत्यदीपक (1866), वृत्तांतविलास (1867), ज्ञानदीपक (1867), कविवचन सुधा (1867), धर्मप्रकाश (1867), विद्याविलास (1867), वृत्तांतदर्शन (1867), विद्यादर्श (1869), ब्रह्मज्ञानप्रकाश (1869), अलमोड़ा अखबार (1870), आगरा अखबार (1870), बुद्धिविलास (1870), हिन्दूप्रकाश (1871), प्रयागदूत (1871), बुंदेलखंड अखबार (1871), प्रेमपत्र (1872) और बोधा समाचार (1872)।

इन पत्रों में से कुछ मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण' जो द्विभाषीय (बंगला हिन्दी) था और कलकत्ता से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र 1871 तक चलता रहा। अब अधिकांश हिन्दी भाषा के पत्र आगरा से प्रकाशित होने लग गये जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षाकेंद्र था और वे विद्यार्थी समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्मसमाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार कार्य से संबंधित थे। बहुत–से पत्र द्विभाषीय (हिन्दी उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिन्दी प्रदेश के प्रारंभिक पत्रों में 'बनारस अखबार' (1845) काफी प्रभावशाली था और उसी की सामयिक भाषानीति के विरोध में 1850 में तारामोहन मैत्र ने शुद्ध भाषा में काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और 1855 में राजा लक्ष्मण सिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरंभ किया था। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू भाषाशैली को अपनाता था, तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्समप्रधान शैली की ओर झुके हुए थे। 1867 से पहले भाषाशैली के संबंध में हिन्दी पत्रकार किसी निश्चित शैली का अनुसरण नहीं कर सके थे। इसी वर्ष 'कवि वचनसुधा' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ, हम उसे पहला महत्त्वपूर्ण हिन्दीभाषी पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अंत में साप्ताहिक। भारतेंदु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परन्तु सच तो यह है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के प्रकाशन (1873) तक वे भी भाषाशैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखाई देते हैं।

हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा युग 1873 से 1900 तक चलता है। इस युग में एक छोर पर भारतेंदु का 'हरिश्चंद्र मैगजीन' था और नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदन प्राप्त 'सरस्वती'। इन 27 वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या 300–350 से ऊपर हो गई और इनका विस्तार नागपुर तक हो गया। अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक थे। मासिक पत्रों में निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता आदि के रूप में कुछ अधिक स्थायी सामग्री संचित रहती थी। अधिकांश पत्र 10–15 पृष्ठों से अधिक नहीं जा पाते थे। उनमें प्रस्तुत की जानेवाली सामग्री की दृष्टि से उन्हें 'विचारपत्र' कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उनपर टिप्पणियों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचारों के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिए उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने जनजागरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उन 25 वर्षों का आदर्श, भारतेंदु की पत्रकारिता थी। 'कविवचनसुधा' (1857), 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (1874), बालबोधिनी (स्त्री जन की पत्रिका, 1874) के रूप में भारतेन्दु ने ही इस दिशा में पथप्रदर्शन किया। उनकी टीका टिप्पणियों से सरकारी अधिकारी घबराते थे और 'कविवचनसुधा' के 'पंच' पर रुष्ट होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा विभाग के लिए लेना बंद कर दिया था। इसमें संदेह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेंदु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नए–नए पत्रों के प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया। 'हिन्दी प्रदीप', 'भारतजीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही किया। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

भारतेंदु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आए, उनमें प्रमुख थे पंडित रुद्रदत्त शर्मा, (भारतमित्रा, 1877), बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी प्रदीप, 1877), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, 1878), पंडित सदानंद मिश्र (सारसुधानिधि, 1878), पंडित वंशीधर (सज्जन–कीर्ति–सुधाकर, 1878), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' (आनंद कादंबिनी, 1881), देवकीनंदन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार, 1882), राधाचरण गोस्वामी (भारतेंदु, 1882), पंडित गौरीदत्त (देवनागरी प्रचारक, 1882), राजा रामपाल सिंह (हिन्दुस्तान, 1883), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण, 1883), अंबिकादत्त व्यास (पीयूषप्रवाह, 1884), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन, 1884) पं. रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, 1888), योगेशचंद बसु (हिन्दी बंगवासी, 1890), पं. कुंदनलाल (कवि व चित्रकार, 1891) और बाबू देवकीनंदन खत्री एवं बाबू जगन्नाथ दास (साहित्य सुधानिधि, 1894)।

1895 में 'नागरीप्रचारिणी सभा पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ होता है। इस पत्रिका से गंभीर साहित्य समीक्षा का आरंभ हुआ और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाशस्तंभ मान सकते हैं। 1900 ई. में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिन्दी पत्रकारिता के इस दूसरे युग का पटाक्षेप हो जाता है। 'हंस' का प्रकाशन सन् 1930 ई. में बनारस से हुआ। इसके संपादक प्रेमचंद थे। प्रेमचंद के संपादकत्व में यह पत्रिका हिन्दी की प्रगति में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई। सन् 1933 में प्रेमचंद ने इसका काशी विशेषांक बड़े परिश्रम से निकाला। वे सन् 1930 से 1936 तक इसके संपादक रहे। उसके बाद जैनेन्द्र कुमार और शिवरानी देवी ने इसका संपादन किया। इसके विशेषांकों में 'प्रेमचंद स्मृति अंक', 'एकांकी नाटक अंक' 1939, 'रेखाचित्र अंक', 'कहानी अंक', 'प्रगति अंक' तथा 'शांति अंक' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैनेन्द्र और शिवरानी देवी के बाद इसके संपादक शिवदान सिंह चौहान और श्रीपत राय फिर अमृत राय और फिर नरोत्तम नागर रहे। बहुत दिनों बाद सन् 1959 ई. में उसका बृहत् संकलन का रूप सामने आया जिसमें बालकृष्ण राव और अमृत राय के संपादकत्व में आधुनिक साहित्य और उससे संबंधित नवीन मूल्यों पर विचार किया गया।

इस तरह इन 25 वर्षों में हिन्दी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारंभिक पत्र शिक्षा प्रसार और धर्म प्रचार तक सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बालाबोधिनी' (1874) नाम से पहला स्त्री मासिक पत्र चलाया।

कुछ वर्ष बाद महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं–'भारतभगिनी' (हरदेवी, 1888)।इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज और सनातन धर्म के प्रचारक विशेष सक्रिय थे। ब्रह्मसमाज और राधा स्वामी मत से संबंधित कुछ पत्र और मिर्जापुर जैसे ईसाई केंद्रों से कुछ ईसाई धर्मसंबंधी पत्र भी सामने आते हैं, परन्तु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्यसमाज के और पौराणिकों के पत्रों में ही पाते हैं। आज वे पत्र कदाचित् उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने हिन्दी भाषा की गद्यशैली को पुष्ट किया और जनता को नये विचारों की ज्योति दी। इन धार्मिक वाद–विवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और संप्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही सांप्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई।सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और कहा जाता है कि उन्होंने असंख्य जनों को वाणी भी दी, लेकिन आज वही पत्र हमारी इतिहास–चेतना में विशेष महत्त्व रखते हैं, जिन्होंने भाषा शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रतिम कार्य किया हो।साहित्यिक दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' (1871), ब्राह्मण (1883), क्षत्रियपत्रिका (1880), आनंद कादंबिनी (1881), भारतेंदु (1882), देवनागरी प्रचारक (1882), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूषप्रवाह, 1891), कवि के चित्रकार (1891), नागरी नीरद (1883), साहित्य सुधानिधि (1854) और राजनीतिक दृष्टि से भारतमित्र (1877), उचित वक्ता (1878), सार सुधानिधि (1878), भारतोदय (दैनिक, 1883), भारत जीवन (1884), भारतोदय (दैनिक, 1885), शुभचिंतक (1887) और हिन्दी बंगवासी (1890) की भूमिका विशेष तौर पर महत्त्वपूर्ण है।इस पत्रों में हमारे 19वीं शताब्दी के साहित्य रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिंतकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्त्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानंद मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अंबिकादत्त व्यास और बालमुकुंद गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबंध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास–परिहास और स्कैच आज भी हमें अलभ्य हो रहे हैं। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो ये अग्रणी थे ही।प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिक पत्रों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतंत्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बंबई से 'वेंकेटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित करना आरंभ किया और दिल्ली से विजय निकला। 1821 में काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1921 में हिन्दी का आरंभ इसी समय से होता है। फलतः बीसवीं सदी के पहले बीस वर्षों को हम हिन्दी पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं। आधुनिक युगों (1921) के बाद हिन्दी पत्रकारिता का काल आरंभ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय और साहित्यिक चेतना को साथ–साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिन्दी का प्रवेश विश्वविद्यालय में हुआ और कुछ ऐसे कृती संपादक सामने आए हैं जो अंग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतः परिचित थे और जो हिन्दी पत्रों को अंग्रेजी, मराठी और बंगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नये युग का आरंभ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन ने हिन्दी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित की और जैसे–जैसे आंदोलन का बल बढ़ने लगा, हिन्दी के पत्रकार और अधिक महत्त्व पाने लगे। 1921 के बाद गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणों और श्रमिकों तक पहुँच गया और उसके इस प्रसार में हिन्दी पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिन्दी पत्रकार राष्ट्रीय आंदोलन की अग्र पंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नये–नये कानून बनाकर समाचार– पत्रों की स्वतंत्रता पर कुठाराघात किया, परन्तु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ झेलते हुए भी हमारे पत्रकारों ने स्वतंत्र विचार की दीपशिखा जलाए रखी।

कर्मवीर (1924), सैनिक (1924), स्वदेश (1921), श्रीकृष्णसंदेश (1925), हिंदूपंच (1926), स्वतंत्र भारत (1928), जागरण (1929;, हिन्दी मिलाप (1929), सचित्र दरबार (1930), स्वराज्य (1931), नवयुग (1932), हरिजन सेवक (1932), विश्वबंधु (1933), नवशक्ति (1934), योगी (1934), हिन्दू (1936), देशदूत (1938), राष्ट्रीयता (1938), संघर्ष (1938), चिनगारी (1938), नवज्योति (1938), संगम (1940), जनयुग (1942), रामराज्य (1942), लोकवाणी (1942), सावधान (1942), हुंकार (1942), संसार (1943), सन्मार्ग (1943) और जनवार्ता (1972) जैसी पत्र–पत्रिकाओं की इस समय धूम रही।

इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परन्तु जनमन के निर्माण में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्र कला का संबंध है, वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग में पत्रों में धरती और आकाश का अंतर है। आज पत्र संपादन वास्तव में उच्च कोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (1921) और उसके संपादक स्व. बाबूराव विष्णु पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है 'आज' ने पत्रकला के क्षेत्र में एक महान संस्था का काम किया है और उसने हिंदी को बीसियों पत्रसंपादक औरपत्रकार दिये हैं। बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। 19वीं सदी के पत्रकारों को भाषाशैली क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अंग्रेजी और दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी बात रखनी थी। अभी हिन्दी में रुचि रखनेवाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे–धीरे परिस्थिति बदली और हम हिन्दी पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं।इस शताब्दी के धर्म और समाजसुधार के आंदोलन कुछ पीछे रह गए और जातीय चेतना ने धीरे–धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र, साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' (1903–1918) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिन्दी मासिक पत्र एक प्रभावी साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आए।हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकाओं का लंबा और समृद्ध इतिहास रहा है। 1921 के बाद साहित्य क्षेत्र में जो पत्र आए, उनमें प्रमुख हैं–माधुरी (1923), मर्यादा, चांद (1923), मनोरमा (1824) , समालोचक (1924), चित्रपट (1925), कल्याण (1926), सुधा (1927), विशालभारत (1928), त्यागभूमि (1928), हंस (1930), गंगा (1930), विश्वमित्र (1933), रूपाभ (1938), साहित्यसंदेश (1938), कमला (1939), मधुकर (1940), जीवन साहित्य (1940), विश्वभारती (1942), संगम (1942), कुमार (1944), नया साहित्य (1945), पारिजात (1945), हिमालय (1946) आदि।

श्रृंखलित उपन्यास, कहानी के रूप में भी कई पत्र प्रकाशित हुए,

जैसे उपन्यास 1901, हिन्दी नाविल (1901), उपन्यास लहरी (1902), उपन्यास सागर (1903), उपन्यास कुसुमांजलि (1904), उपन्यास बहार (1907), उपन्यास प्रचार (1912)। केवल कविता अथवा समस्यापूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चलते रहे। गंभीर समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (1902) और ऐतिहासिक शोध से संबंधित 'इतिहास' (1905) का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परन्तु सरस्वती ने मिस्लेनी' के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है, जैसे 'भारतेन्दु' (1905), नागरी हितैषिणी पत्रिका, बाँकीपुर (1905), नागरीप्रचारक (1906), मिथिलामिहिर (1910) और इन्दु (1909) दोनों हमारी साहित्य चेतना के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है और एक तरह से हम उन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का उत्कर्ष भी कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और 'इंदु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पांडेय ने जिस संपादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा, वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ। साहित्यिक पत्रकारिता उत्कर्ष पर पहुँची, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दी पत्रकारिता को नेतृत्व प्राप्त नहीं हो सका। पिछले युग की 'राजनीतिक पत्रकारिता' का केंद्र कलकत्ता था। कलकत्ता हिन्दी प्रदेश से दूर था, हिन्दी प्रदेश को राजनीतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर से मिला। हिन्दी प्रदेश का पहला दैनिक राजा रामपाल सिंह का द्विभाषीय 'हिन्दुस्तान' (1883) है, जो अंगेजी और हिन्दी में कालाकांकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (1885) में, बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया, परन्तु ये दोनों दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचारधारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता से भारतमित्र, बंगवासी, सार सुधानिधि और उचित वक्ता ही हिन्दी प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इसमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे अधिक स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक जागृति के केन्द्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रांत अग्रणी थे। हिन्दी प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रांतों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया, अतः बहुत दिनों तक उनका स्वतंत्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम 'अभ्युदय' (1905), 'प्रताप' (1913), 'कर्मयोगी', 'हिन्दी केसरी' (1904–1908) आदि के रूप में हिन्दी राजनीतिक पत्रकारिता को आगे बढ़ते पाते हैं। आधुनिक साहित्य के अनेक अंगों की भाँति हमारी पत्रकारिता भी नई कोटि में सम्मिलित हो गयी और उसमें मुख्यतः हमारे मध्य वित्तवर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब भास्वर है। वास्तव में पिछले 180 वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्र–पत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बंगला के 'कलेर कथा' ग्रंथ में पत्रों के अवतरणों के आधार पर बंगाल के उन्नीसवीं सदी में साहित्य कही जा सकनेवाली चीज बहुत कम है और जो भी है, वह पत्रों के पृष्ठों में ही पहले पहल सामने आई है। भाषाशैली के निर्माण और जातीय शैली के विकास में पत्रों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, परन्तु बीसवीं सदी के पहले दो दशकों के अंत तक मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्र ही हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म देते और विकसित करते हैं। द्विवेदी युग के साहित्य को हम 'सरस्वती' और 'इन्दु' में जिस प्रयोगात्मक रूप में देखते हैं, वही उस साहित्य का असली रूप है। 1921 ई. के बाद साहित्य बहुत कुछ पत्रपत्रिकाओं से स्वतंत्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परन्तु फिर भी विशिष्ट साहित्यिक आंदोलन के लिए हमें मासिक पत्रों के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं।

राजनीतिक चेतना के लिए पत्र–पत्रिकाएँ हैं ही। वास्तव में हमारे मासिक साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। हिन्दी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों द्वारा ही पहले प्रकाश में आई और अनेक श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार पत्रकारिता से भी संबंधित रहे। हमारे मासिक पत्र जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करते रहे हैं। अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान गया है। साहित्य की प्रवृत्तियों की जैसी विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्रमाण, गतिशील रूप प्राप्त होता है। 1927 में मध्य भारत हिन्दी प्रचार समिति इंदौर से साहित्यिक पत्रिका 'वीणा' निकलने लगी।

लघु पत्रिका (लिटिल मैगजीन) आंदोलन का मुख्य रूप से पश्चिम में प्रतिरोध (प्रोस्टेट) के औजार के रूप में शुरू हुआ था, यह प्रतिरोध राज्य सत्ता, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद का धार्मिक वर्चस्ववाद–किसी के भी विरुद्ध हो सकता था। लिटिल मैगजीन आंदोलन की विशेषता उससे जुड़े लोगों की प्रतिबद्धता तथा सीमित आर्थिक संसाधनों में तलाशी जा सकती थी। अक्सर बिना किसी बड़े औद्योगिक घराने की मदद लिये बिना, किसी व्यक्तिगत अथवा छोटे सामूहिक प्रयासों के परिणामस्वरूप निकलनेवाली ये पत्रिकाएँ अपने समय के महत्त्वपूर्ण लेखकों को छापती रही हैं। भारत में भी सामाजिक चेतना के बढ़ने के साथ–साथ बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लघु पत्रिकाएँ प्रारंभ हुई। 1950 से लेकर 1980 तक का दौर हिन्दी का लघु पत्रिकाओं के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा। यह वह दौर था, जब नई–नई मिली आजादी से मोह भंग शुरू हुआ था और बहुत बड़ी संख्या में लोक विश्वास करने लगे थे कि बेहतर समाज बनाने के लिए साहित्य की निर्णायक भूमिका हो सकती है। दरअसल हिन्दी में लघु पत्रिका आंदोलन की शुरुआत छठे दशक में व्यावसायिक पत्रिका के जवाब के रूप में की गई है। इस आंदोलन का श्रेय हम हिन्दी के वरिष्ठ कवि विष्णुचंद्र शर्मा को दे सकते हैं, उन्होंने 1957 में बनारस से कवि का संपादन प्रकाशन शुरू किया था। कालांतर में और भी कई लघु पत्रिकाएँ व्यक्तिगत प्रयासों और प्रकाशन संस्थानों से निकली, जिसने हिन्दी साहित्य की तमाम विधाओं को न केवल समृद्ध किया, बल्कि उसका विकास भी किया। बेनेट कोलमेन एंड कंपनी तथा हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड की पत्रिकाओं–धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सारिका, कादम्बिनी, दिनमान और माधुरी जैसी बड़ी पूंजी से निकलनेवाली पत्रिकाओं के मुकाबले अणिमा, कहानी, नई कहानियाँ, कल्पना, लहर, वातायन, बिंदु, क्यों, तटस्थ, वाम, उतरार्ध, आरंभ, ध्वजभंग, सिर्फ, हाथ, कथा, आलोचना, कृति, क ख ग, माध्यम, ऐसी पत्रिकाएँ बड़े प्रतिष्ठानों से नहीं, बल्कि लेखकों के व्यक्तिगत, निजी प्रयत्नों से छोटे पैमाने पर निकली, उस वक्त ऐसी पत्रिकाओं की जैसे झड़ी ही लग गई। समझ, आवेग, सनीचर, अकविता, आकंठ, इबारत, जारी, जमीन, आइना, कंक, अब, आमुख, तेवर, धरातल, आवेश, धरती, वयं, संबोधन, संप्रेषण जैसी पत्रिकाएँ निकलीं जो सीमित संसाधनों, व्यक्तिगत प्रयासों या लेखक संगठनों की देन थी, इन पत्रिकाओं का मुख्य स्वर साम्राज्यवाद विरोध था और ये शोषण, धार्मिक कठमुल्लापन, लैंगिक असमानता जैसी प्रवृत्तियों के विरुद्ध खड़ी दिखाई देती थीं। एक समय तो ऐसा भी आया, जब मुख्य धारा के बहुत–से लेखकों ने पारिश्रमिक का मोह छोड़कर बड़ी पत्रिकाओं के लिए लिखना बंद कर दिया और वे केवल इन लघु पत्रिकाओं के लिए ही लिखते रहे। एक दौर ऐसा भी आया जब बड़े

घरानों में पत्रिकाओं में छपना शर्म की बात समझा जाता था और लघु पत्रिकाओं में छपने का मतलब साहित्यिक समाज की स्वीकृति की गारंटी होता था। इन्होंने रचनाशीलता का एक अलग ही माहौल बनाया। इनमें ज्यादातर में दृष्टि थी, रचना विवेक था और इन्हें लेखकों का अकुंठित सहयोग प्राप्त था, लघु पत्रिकाएँ घटनाओं की जड़ तक पहुँचकर सच्चाई को उजागर करने का काम कर रही थीं। इनसे एक ओर जहाँ नवलेखन पल्लवित होता है, वहीं सामान्य जन की आशा–आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति मिलती है। लोग पारिश्रमिक देनेवाली और लेखक को स्टार बनानेवाली पत्रिकाओं में छपने की जगह इनमें छपना गौरव की बात समझते थे। सारी बड़ी बहसें इन्हें छोटी पत्रिकाओं में चली है। आज जो भी लिखा जा रहा है, उसके प्रकाशन का मंच यही पत्रिकाएँ हैं, लेकिन इन लघु पत्रिकाओं की सीमा भी है। इनका प्रसार बहुत कम होता है (वैसे अगर संतोष करना चाहें तो यह तथ्य कि टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट और न्यूयॉर्क रिव्यू आफ बुक्स की बी 7–8 हजार प्रतियाँ ही छपती हैं)। दूसरे कुकुरमुत्तों की तरह फैलानेवाली आज की इन पत्रिकाओं में संपादकीय दृष्टि का अभाव भी दिखाई देता है। इन्हें रचनाओं का अभाव भी होता है। संपादक की महत्त्वाकांक्षा भी इनकी एक सीमा है। व्यावसायिक/आर्थिक विवशताएँ तो हैं ही। आज राष्ट्रीय एवं ग्लोबल कारणों से न तो लघु पत्रिकाएँ निकालने वालों के मन में पुराना जोश बाकी है और न ही उनमें छपना पहले जैसी विशिष्टता का अहसास कराता है, फिर भी लघु पत्रिकाओं में छपी सामग्री का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी साहित्य के बहुत सारे विवाद, आंदोलन, प्रवृत्तियों को निर्धारित करनेवाली सामग्री और महान रचनाएँ इन लघु पत्रिकाओं के पुराने अंकों में समाई हुई हैं। इनमें से बहुत सामग्री कभी पुनर्मुद्रित नहीं हुई। साहित्य के गंभीर पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। अब भी लघु पत्रिकाएँ सामाजिक व राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए साहित्यिक चेतना जगाने का काम कर रही है।

टेलीविजन समाचारों के आने के बाद समाचार के क्षेत्र में क्रांति आई, जल्दी और ताजा खबरों की मांग बढ़ी, फोटो का महत्त्व बढ़ा, स्वयं को देखने, सजने, सँवरने और ज्यादा से ज्यादा मुखर होने की प्रवृत्ति में इजाफा हुआ। व्यक्तिवाद में वृद्धि हुई और इसके साथ–साथ खबरों को छिपाने या गलत खबर देने की प्रवृत्ति में भी वृद्धि हुई है। खासकर मानवाधिकारों के हनन की खबरों को छिपाने के मामले में मीडिया खासकर टी.वी. सबसे आगे है। चूँकि मानवाधिकार का संदर्भ किसी व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता और गरिमा से सम्बद्ध है। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा 1948 विश्व की एक महत्त्वपूर्ण घटना है और संयुक्त राष्ट्रसंघ की महान उपलब्धि है। मानवाधिकार स्थैतिक नहीं है। ये गतिशील हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विकास कार्यक्रम के तहत हर वर्ष प्रकाशित मानव विकास रिपोर्ट में नए आयामों की झलक मिलती है। वे सब तत्त्व जो मानव के विकास के मार्ग में बाधक हैं, वहाँ मानवाधिकारों का उल्लंघन है, रोजगार को भी उतना ही बड़ा मानवाधिकार है, जितना जीने का अधिकार है। महँगाई भी मानवाधिकार का हनन है, प्रदूषित पर्यावरण मानवाधिकार पर अतिक्रमण है। उत्पादक, उत्पाद और उपभोक्ता के इस दौर में खबरों को भी उत्पाद बना दिया गया है। जो बिक सकेगा, वही खबर है। अफसोस की बात है कि तथाकथित बिकाऊ खबरों को खरीदने (देखने, सुनने,पढ़ने) के लिए लक्ष्य समूह को मजबूर किया जा रहा है। खबरों के 'उत्पादकों' के पास इस बात का भी तर्क है कि यदि उनकी 'बिकाऊ' खबरों में दम नहीं होता तो चैनलों को टीआरपी और अखबारों का 'रीडरशिप' कैसे बढ़ती? हावर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रहे सैमुएल हटिंगटन ने अपनी चर्चित पुस्तक 'सभ्यताओं का संघर्ष' में यह स्थापना दी थी कि अब विचारों की समाप्ति का युग है। उनकी बातों का थोड़ा विस्तार किया जाए तो अब संघर्ष, विचारधाराओं के कारण नहीं, बल्कि यहाँ संघर्ष अब किसी बेजुबानों को जुबां देने के लिए नहीं, किसी अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए नहीं, अपितु मीडियायों के बीच मौजूद आर्थिक अंतर के लिए होगा/ हो रहा है। बड़ी–बड़ी कंपनियों का रूप लिये जा रहे इन समाचार माध्यमों में क्या कोरपोरेट हित के अलावा भी कोई बात होती है, जन सरोकारों की बात भी आपको पढ़ने देखने सुनने को मिलती है? नहीं। अगर कुछ समूह गाँव–गरीब–किसान की बात करते हैं, तो स्वाभाविक तौर पर नहीं, बल्कि लोकतंत्र को कमजोर करनेवाले भ्रष्ट तत्त्वों द्वारा प्रायोजित प्रभावित होकर ही। सरकारी विज्ञापनों द्वारा रेवड़ियाँ पाने की आंधी में चाहे छोटे या मंझले समाचार माध्यम हों, तथाकथित प्रगतिशील हों, सब गंगा में डूबकियाँ लगा रहे हैं। उधर सरकार का संसदीय व्यवस्था को तार–तार करने का मंसूबा पाले देशों– विदेशों बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समूह तथा अ–सरकारी गिरोहों द्वारा उपलब्ध करवाये गये फंड को पाकर लोकतंत्र के खिलाफ युद्ध करनेवाले प्रायोजित समूहों के मध्य आपको निष्पक्ष मीडिया ढूंढे नहीं मिलेगा। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने भारतीय मीडिया की अधकचरी संस्कृति को ओढ़ने–बिछाने वाले एक छोटे से तबके को भले ही कुछ ऐसा दे दिया है, जो उन्हें नायाब दिखता होगा, एक आम भारतीय समाज के लिए उसका कोई मूल्य या महत्त्व नहीं। यह 'क्लास' का मीडिया 'मास' का मीडिया बन ही नहीं सकता।

हाल के दिनों में मीडिया के स्वरूप व्यापक बदलाव आया है। तकनीकी विस्तार के साथ मीडिया की पहुँच व्यापक हुई है, लेकिन इस विस्तार के साथ चिंतनीय पहलू यह जुड़ा हुआ है कि यह सामाजिक सरोकारों से बहुत दूर हो गया है। विकासशील देशों में मीडिया की भूमिका विकास और सामाजिक मुद्दों से अलग हटकर हो ही नहीं सकती, लेकिन भारत में मीडिया इसके विपरीत भूमिका में आ चुका है। मीडिया की प्राथमिकताओं में जब शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी, विस्थापन जैसे मुद्दे रह ही नहीं गये हैं। उत्पादक, उत्पाद और उपभोक्ता के इस दौर में खबरों को भी उत्पाद बना दिया गया है। जो बिक सकेगा, वही खबर है। अफसोस की बात है कि तथाकथित बिकाऊ खबरें भी ऐसी हैं कि उनका वास्तविक खरीददार कोई है भी या नहीं, पता करने की कोशिश नहीं की जा रही है। बिना किसी विकल्प के उन तथाकथित बिकाऊ खबरों को खरीदने (देखने, सुनने, पढ़ने) के लिए लक्ष्य समूह को मजबूर किया जा रहा है। खबरों के 'उत्पादकों' के पास इस बात का भी तर्क है कि यदि उनकी बिकाऊ खबरों में दम नहीं होता, तो चैनलों की टीआरपी और अखरों का 'रीडरशिप' कैसी बढ़ती? हावर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफसर रहे सैमुएल हटिंगटन ने अपनी चर्चित पुस्तक 'सभ्यताओं का संघर्ष' में यह स्थापना दी थी कि अब विचारों की समाप्ति का युग है। उनकी बातों का थोड़ा विस्तार किया जाए तो अब संघर्ष, विचारधाराओं के कारण नहीं, बल्कि यहाँ संघर्ष अब किसी बेजुबानों को जुबां देने के लिए नहीं, किसी अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए नहीं, अपितु मीडियायों के बीच मौजूद आर्थिक अंतर के लिए होगा/हो रहा है। बड़ी–बड़ी कंपनियों का रूप लिये जा रहे इन समाचार माध्यमों में क्या कोरपोरेट हित के अलावा भी कोई बात होती है, जन सरोकारों की बात भी आपको पढ़ने–सुनने को मिलती है? नहीं। अगर कुछ समूह गाँव–गरीब–किसान की बात करते भी हैं, तो स्वाभाविक तौर पर नहीं, बल्कि लोकतंत्र को कमजोर करनेवाले भ्रष्ट तत्त्वों द्वारा प्रायोजित प्रभावित होकर ही। सरकारी विज्ञापनों द्वारा रेवड़ियाँ पाने की आंधी में चाहे छोटे और मंझोले समाचार माध्यम हों, तथाकथित प्रगतिशील हों, सब गंगा में

डुबकियाँ लगा रहे हैं। उधर सरकार या संसदीय व्यवस्था को तार–तार करने का मंसूबा पाले देशी–विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समूह तथा अ–सरकारी गिरोहों द्वारा उपलब्ध करवाये गये फंड को पाकर लोकतंत्र के खिलाफ युद्ध करनेवाले प्रायोजित समूहों के मध्य आपको निष्पक्ष मीडिया ढूंढे नहीं मिलेगा। मीडिया का ओनरशिप कैरेक्टर समझे बिना पत्रकारिता और उसकी सीमाओं को समझना मुश्किल होगा। जिस मीडिया को करोड़ों रुपये मैनेज करना होता है, वो देश की चिंता क्यों करेगा? पत्रकार दिलीप मंडल ने एक गोष्ठी में मीडिया का पूरा सीनेरियो बताते हुए कहा कि पत्रकार कितना भी ईमानदार हो जाए, ओनरशिप स्ट्रक्चर की वजह से वो प्रो–पीपुल नहीं हो सकता। दिलीप मंडल ने 'सकाल' के एमडी की एक बात कोट की कि ''मैं खबर और विचार पाठकों को बेचता हूँ और अपने पाठक विज्ञापनदाताओं को दे देता हूँ।''

'न्यू मीडिया' की बात करें तो कहा जाता है कि यह संचार का वह संवादात्मक (पदजमतंबजपअम) स्वरूप है जिसमें इंटरनेट का उपयोग करते हुए हम पॉडकास्ट, आरएसएस फीड, सोशल नेटवर्क (फेसबुक, माई स्पेस, ट्वीट), ब्लाग्स, विक्किस, टैक्स्ट मैसेजिंग इत्यादि का उपयोग करते हुए पारस्परिक संवाद स्थापित करते हैं। यह संवाद माध्यम बहु–संचार संवाद का स्वरूप धारण कर लेता है जिसमें पाठक/दर्शक/श्रोता तुरंत अपनी टिप्पणी न केवल लेखक/प्रकाशक से साझा कर सकते हैं, बल्कि अन्य लोग भी प्रकाशित/प्रसारित/संचारित विषय–वस्तु पर अपनी टिप्पणी दे सकते हैं। यह टिप्पणियाँ एक से अधिक हो सकती हैं अर्थात् बहुधा सशक्त टिप्पणियाँ परिचर्चा में परिवर्तित हो जाती हैं। उदाहरणतः आप फेसबुक को ही लें, यदि आप कोई संदेश प्रकाशित करते हैं और बहुत से लोग आपकी विषय–वस्तु पर टिप्पणी देते हैं, तो कई बार पाठकवर्ग परस्पर परिचर्चा आरंभ कर देते हैं और लेखक एक से अधिक टिप्पणियों का उत्तर देता है। मीडिया के इस बदले रुख से उन पत्रकारों की चिंता बढ़ती जा रही है, जो यह मानते हैं कि मीडिया का कार्य समाज को जागरूक करना, शिक्षित करना और सामाजिक सरोकारों के प्रति संवेदनशील बनाना है। दूसरी और उन पत्रकारों की भी कमी नहीं है, जो बाजारीकरण के दौर में मीडिया को व्यवसाय के रूप में देख रहे हैं। आज इंटरनेट ब्लोगिंग, डिजिटल बुक्स, इ–मैगजीन्स, वेबजीन आदि का युग है। सूचना प्रौद्योगिकी के इस विकसित समय में विजुअल मीडिया की भूमिका सर्वोपरि एवं सर्वग्राह्य हो गई है, ऐसे में पत्रिकाओ का भविष्य भारत के दूर–दराज के कस्बे और गाँवों में दिखाई देता है। साहित्यिक पत्रकारिता अब बस इतिहास की वस्तु है।

कहानी

परिंदे की बेबसी

देववंश दुबे
कृष्ण नगर, नमना कला, अंबिकापुर
सुरगुजा, छत्तीसगढ़
मो. 7879076271

जून का महीना,ऊपर से नवतपा!... उफ्फ, यह मौसम!..... पंखा–कूलर भी गर्मी से हाँफ रहे हैं। जो जहाँ है, वहीं त्रस्त हैं। वह अपनी गंजी और लूंगी शरीर से उतारकर उनका तकिया बनाता है और छत पर पहले से फैली खजूर की चटाई पर लेट जाता है। वातावरण में उमस अपनी जोर पर है।उस के खुले बदन को हवा ने जैसे ही छुआ कि उसकी रगों में एक ठंडी सिहरन दौड़ गयी।

''आह! आज की रात यहीं सोना अच्छा रहेगा, बल्कि पत्नी को भी बोल दूँगा!.... नहीं, नहीं! बेकार है उसे बोलना। जब भी बोलता हूँ, वह उल्टे मुझे ही समझाने लगती है....आपको कुछ बुद्धि–विवेक है कि नहीं! अगल–बगल की छतों पर कैसे–कैसे लोग सोते हैं.....क्या कहेंगे?....औरत को बहुत कुछ सोचना पड़ता है!..आपको तो पता है न कि मकान मालिक भी कभी–कभी छत पर सोने चले जाते हैं।... फिर?...मर्द थोड़े हैं कि जैसे भी सोना हो, सो लिये! ... ना बाबा! ना!..... मेरा मुँह नोंच देगी वह। उसको समझाना यानी पहाड़ में सिर टकराना है। इसलिए उसकी जो मर्जी, वही करे। नीचे ही सोये वह, मुझे क्या!...लेकिन आज तो मैं नीचे सोने से रहा। कमरे की उमस को झेलना आज मेरे बस में नहीं है.... बाप रे, बाप! पंखे चलते हैं तो लगता है, जैसे ड्रगन आग की लपटें छोड़ रहे हैं...... ।''

दम निकाल देनेवाली उमस से उसे थोड़ी राहत अभी मिली ही थी कि माँ की बातों ने उसके दिमाग की नसों पर दबाव बनाना शुरू कर दिया। वह चटाई पर लेटे–लेटे शून्य में ताकने लगा ।... पेट की भूख ने मुझे कहाँ–से–कहाँ पहुँचा दिया है ।...परिंदे भी शाम होते अपने घोंसलों में लौट आते हैं, लेकिन मैं?... अपनी स्थिति के बारे में सोचते–सोचते ही वह मायूस हो जाता है। फिर तनिक देर बाद खुद ही अपने आप को समझाने लगता है .. ..आजकल घर में कहाँ किसी को दाल–रोटी मिलती है!

गाँव से जब से माँ का फोन आया है, उसका मन माँ की ओर खींचा चला जा रहा है।....माँ है न! महीना–पंद्रह में वह किसी–न–किसी से एक बार फोन लगवा ही लेती है।....भैया– भाभी जो भी फोन लगाएँ, उनका हालचाल बहुत कम समय में ही पूरा हो जाता है, लेकिन माँ?... उसकी बातचीत तो जल्दी खत्म ही नहीं होती है और जब खत्म होने को होती है, तो अंत में इतना जरूर पूछती है–'कब आओगे?' और उसके उत्तर में वह अनौपचारिक ढंग से कुछ–न–कुछ जवाब दे ही देता है।

उसे इस बार घर जरूर जाना चाहिए। इसलिए नहीं कि उसे घर गये बहुत दिन हो गये हैं, बल्कि इसलिए कि अब माँ कुछ महीनों से घुमा–फिरा कर एक ही रट लगा रही है–''बेटा! साल में एकाध बार तो इधर आ जाया करो। तुमसे कुछ माँग थोड़ी रही हूँ। बस तुम्हें देखने के लिए जी तरस जाता है।....ऐसी कौन–सी नौकरी है, जो साल में भी तुम्हें छुट्टी नहीं मिलती?''

माँ का ख़याल आया नहीं कि उसकी आँखें भरने लगती हैं। वह जानता है, धीरे–धीरे वह घर–परिवार, नाते–रिश्तेदार से दूर होता जा रहा है......आने–जाने से रिश्तों में जो मजबूती बनती है वो फोन में कहाँ!... लेकिन वह करे भी तो क्या करे। आर्थिक तंगी ने उसे हिलना–डुलना तक बंद कर दिया है। वह किस–किसको बताये कि एक प्राइवेट फर्म में काम करने का मतलब क्या होता है? हड्डियाँ घिसती हैं, तब कहीं दो जून की रोटियाँ नसीब होती हैं। प्रबंधन कमिटी का कहना है, कम्पनी घाटे में चल रही है। इसलिए उसका वेतन 4 साल पहले जितना था, आज भी उतना ही है। कम्पनी की नजर में न तो महँगाई बढ़ रही है, न ही उसकी जरूरतें। साहब की ऊपर से धौंस अलग–'काम करना है तो ठीक से करो, वरना दफा हो जाओ, काम करनेवालों की कमी नहीं है, एक जाएगा, दस आयेंगे।'

ऐसे तानाशाह के अंदर नौकरी करना भी तलवार की धार पर चलने जैसा है। हाथ से नौकरी चले जाने का खौफ उसके दिमाग से कभी हटता ही नहीं है।

उसे घर गये एक–डेढ़ वर्ष बीतने वाले हैं! जब कभी मन हुआ स्वयं घर पर फोन लगा लिया और मन को तृप्त कर लिया। घर से कब फोन आएगा, इसका इंतजार नहीं करता। जिंदगी इसी तर्ज पर कट रही है उसकी। वह ज़माना कोई और था, जब दुनिया में मोबाईल नहीं आया था, तब वह कॉलेज में पढ़ता था। पोस्ट कार्ड, लिफाफा, अंतरदेशीय पत्र ही रिश्तों को सँभालते थे। माँ खुशामद करके किसी से चिट्ठी लिखवाती थी। उसकी चिट्ठी एक बार में कभी पूरी नहीं होती थी। वह बार–बार पढ़वाती और सुनती और हर बार कुछ–न–कुछ नया समाचार और जुड़वाती। यही बात मेरे द्वारा भेजे गये पत्रों के साथ भी होता था। कई–कई बार किसी से पढ़वाना और सुनना उसकी आदत थी। वह अभी भी बताती है, उसे जब भी मुझे देखने की इच्छा होती, वह मेरे पुराने पत्रों में झाँक लिया करती। भेजा गया पत्र, पत्र नहीं, बल्कि 'मैं' होता था। मेरा हर पत्र उसके दिल के बहुत करीब हुआ करता था।

आसमान पूरा साफ, दूध का धुला लग रहा है। तारे हल्की लालिमा और पीलापन लिये थिरक रहे हैं। तारों की बस्तियों से गुजरते हुए उसका मन कई साल पीछे चला जाता है....

मकान के आँगन में चारपाई पर बैठकर उसकी माँ उसे मालिश कर रही है और ध्रुव तारे और सप्त ऋषियों की कहानियाँ बड़ी चटकारे लेकर सुना रही है। आकाशगंगा माँ की नजर में धूल फाँकता एक रास्ता है, जिधर से स्वर्ग के मवेशी गुजरते हैं। अभी उसकी माँ के कंठ से श्रवण कुमार की कहानी सरक रही है। वह कहता है–'बड़ा होकर मैं भी श्रवण कुमार बनूँगा, माँ !'

''हाँ, बेटा! बुढ़ापे में तुम पर ही तो आसरा है!'' माँ भरे गले से कह रही है–''बेटियाँ तो ससुराल चली जाएँगी! बुढ़ापे में अंधे की लाठी तो तुम ही रहोगे! खूब पढ़ना–लिखना और बड़ा होकर हमारे लिए अच्छी–अच्छी साड़ियाँ लाना।.....हाँ!'' माँ उस के गाल पर एक हल्की चिकोटी काट देती है।...'मेरा सोना!'

आसमान से फिसलती उसकी नजर जमीन पर आ जाती है। वह अपने घर की दिशा में बड़ी कातर दृष्टि से देखने लग जाता है। माँ अभी शायद आँगन में खाट पर लेटी होगी और आकाश की ओर निहार रही होगी। उसके दिमाग से जैसे तरंगें निकलने लगती हैं.....

''मैं भूला नहीं हूँ, माँ! यहाँ सब लोग तुम्हें खूब याद करते हैं। तुमसे मिलना भी चाहते हैं, मगर बस का किराया आजकल इतना बढ़ गया है कि सबका एक साथ गाँव आना संभव ही नहीं हो पा रहा है। महीने का राशन, मकान किराया, बच्चों की फीस, तीज–त्योहार, बीमारी .... क्या–क्या बताऊँ, माँ! कितना भी कंजूसी करो, बजट गड़बड़ा ही जाता है। अब तुम ही बताओ ना! कैसे करूँ? वेतन से कहाँ कुछ बचता है!....तुम्हें तो कई बार कह चुका हूँ कि तुम यहीं साथ रहा करो। अब बुढ़ापे में घर–गृहस्थी की चिंता क्या करनी! भैया तो गाँव पर हैं ही, देखेंगे खेती–बाड़ी। घर की चिंता में तुम्हारी जिंदगी घिस गयी। फिर अब काहे का हाय–हाय.....किस बात की अब चिंता?

उसका आत्म–संवाद अभी खत्म नहीं हुआ था कि एक अनसुनी आवाज उसके घर की दिशा से आती प्रतीत हुई.....

''नहीं बेटा! कैसे रहूँ? मन ही नहीं लगता वहाँ! यहाँ तो गाँव–घर में घूम–फिर कर मन हल्का कर लिया करती हूँ, पर वहाँ एक ही दर पर बैठे–बैठे जी अकुता जाता है, कैसे रहूँ? तुम ही कहो ना! बेटी–दामाद भी तो मिलने आते रहते हैं!''

''ठीक बोल रही हो माँ!'' वह अपने अंतर्मन से स्वीकार करता है और छत से धीरे–धीरे उतरकर अपने कमरे में चला जाता है। सारे सदस्य सो रहे हैं। वह मोबाईल की रौशनी में आहिस्ता– आहिस्ता अटैची खोलकर एल्बम के पृष्ठ पलटने लगता है। माँ उसे कई जगह दिखती है। कहीं अकेली, कहीं परिवार के साथ। वह बहुत देर तक माँ का चेहरा निहारता रहता है। काफी समय तक घर के मोह–फाँस में जकड़े रहने के बाद वह मन–ही–मन निश्चय करता है कि कल शाम की गाड़ी से अकेला ही गाँव जरूर जाएगा।..... बीमारी का आवेदन पत्र किसी के हाथ अपने दफ्तर भिजवा देगा और चलता बनेगा। प्रबंधन कमेटी को जो विचार करना होगा करेगी। दुनिया में प्राइवेट नौकरी का अकाल नहीं है।

वह एल्बम को अटैची में रखकर पुनः छत पर आ जाता है। चटाई पर लेटे–लेटे आसमान की ओर देखता है जहाँ सब कुछ पहले जैसा था। केवल चाँद थोड़ा सरक चुका था। उसे एक कहानी याद आती है। माँ ने बताया था–चाँद और सूरज दो भाई थे। उन्हें एक बार कहीं से भोज का निमंत्रण मिला था। चाँद ने माँ के लिए छुपा कर तरह–तरह के व्यंजन लाये थे; लेकिन सूरज ने इस दिशा में कुछ सोचा ही नहीं। माँ कहती है, तभी से चाँद तृप्ति भाव के साथ शीतल बना रहता है और सूरज पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है..... 'आहा! कितना प्यारा चाँद!' वह चाँद को प्यार भरी नजरों से एकटक देखने लगता है।

चाँद को देखते–देखते वह चेतन से अवचेतन की अवस्था में जाने कब पहुँच चुका था, उसे इसका तनिक भी आभास नहीं हुआ ।..... यह एक अलग दुनिया थी। वह था और सामने उसकी माँ थी। वह परेशानियाँ माँ को बता रहा है। माँ अपनी गोद में उसका सर रखकर धीरे–धीरे सहलाते हुए कह रही है–'कोई बात नहीं बेटा! जब छुट्टी मिले, तभी आना। माँ का दिल है न! मानता ही नहीं। कितने दिन भी साथ रहो, जिस दिन तुम्हारे जाने को होता है न, उस दिन सुबह से ही मन उदास हो जाता है। लगता है कुछ बातचीत भी नहीं हुई और तुम जाने लगे। तुम्हें घर से जब कुछ दूर तक छोड़ने निकलती हूँ, तो तुम्हें छोड़कर लौटने का मन ही नहीं होता। ....और जब कुछ दूर तुम्हें छोड़कर लौटती हूँ, तो क्या कहूँ! रोती हुई। तुम्हें बार–बार पलटकर देखती जाती हूँ।....जैसे–जैसे तुम आँखों से ओझल होते जाते हो, वैसे–वैसे मेरा आँचल भीगता जाता है। तुम्हारा जाना कहो कि फिर से तुम्हें देखने के लिए आँखें तरसने लगती हैं। ......मैं भी क्या करूँ! बेटा!... दिन पहाड़–सा लगता है! ...मेरी तुमसे कोई शिकायत नहीं है बेटा! मेरा भी तो अब चल–चलौती का बेरा है। पापा की तरह मेरी भी किसी दिन साँसें थम जाएगीं।''

माँ समझाती जा रही थी, वह सिसकता जा रहा था। तभी छत पर पत्नी आकर झिंझोड़ती है–''आज सोते रहेंगे क्या? देखिए तो सूरज एक बाँस ऊपर आ गया है! उठिए–उठिए! जल्दी तैयार होइए। छुटका रात–भर बुखार से हाँफ रहा है, उसे डॉक्टर के पास ले चलना बहुत जरूरी है।''

पत्नी हवा के झोंके सरीखे आती है और वैसे ही चली जाती है। वह हिचकियाँ लेता हुआ अपनी भीगी–भीगी आँखों को खोलता है। पत्नी पर वह मन–ही–मन बहुत खीझता है, लेकिन कुछ बोल नहीं पाता है।..... 'अब कहाँ गाँव जा सकूँगा।' वह आर्द्र मन से अंदर–ही–अंदर विलाप करता जा रहा है.. ...'सोचा था, सुबह किसी से पैसे का इंतजाम करके माँ से मिलने जरूर चला जाऊँगा, लेकिन अब!... अब तो न माँ से मिलने जा सकूँगा और न ही वो सपने वाली माँ की गोद नसीब हो सकेगी।'

वह अपने घुटनों पर अपना सिर टिकाये और हाथों से उसका घेरा बनाये चुपचाप छत पर बैठ गया।

सुसंभाव्य
प्रकाशन

कार्यालय
भवानी कॉम्पलेक्स, पटल बाबू रोड
गुरुद्वारा गली के सामने, भागलपुर (बिहार)
Mob.: 9931240303